

सम्यग्-वाक्-७

भारतीय तन्त्रशास्त्र



भोट विद्या संस्थानम्

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

SAMYAG-VĀK SERIES VII

BHĀRATĪYA TANTRAŚĀSTRA



Editors

Hindi

Vrajavallabh Dwivedi
Janardan Pandey

English

S. S. Bahulkar

RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH PROJECT

Central Institute of Higher Tibetan Studies

Sarnath, Varanasi

B.E. 2539

C.E. 1995

SAMYAG-VĀK SERIES VII

Chief Editor: Prof. S. Rinpoche

First Edition: 550 Copies, 1995

Price: Hardback: Rs. 380.00
Paperback: Rs. 220.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 1995

Publisher: Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

सम्यग्-वाक्-७

भारतीय तन्त्रशास्त्र



सम्पादक

हिन्दी
ब्रजवल्लभ द्विवेदी
जनार्दन पाण्डेय

अंग्रेजी
एस० एस० बहुलकर

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द—२५३९

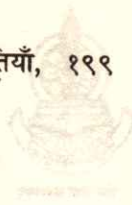
ख्रीस्ताब्द—१९९५

सम्यग्-वाक्-७

स्वायत्त प्रतिष्ठान

प्रधान सम्पादक
प्रो० एस० रिनपोछे

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, १९९९



मूल्य : सजिल्द : रु० ३८०.००
अजिल्द : रु० २२०.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९९५

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक : शिवम् प्रिन्टर्स, सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी, मलदहिया, वाराणसी

प्रकाशकीय

सन् १९९२ में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) सारनाथ, वाराणसी के तत्त्वावधान में संचालित दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की तरफ से भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सप्तदिवसीय (६-१२ फरवरी) कार्यशाला का समायोजन हुआ था । इसमें प्रथम पाँच दिन क्रमशः बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त तन्त्रों पर निबन्धों का वाचन तथा उन पर विद्वानों में विचारों का आदान-प्रदान हुआ । तन्त्रशास्त्र के प्रायोगिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष का एवं उसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष का विवेचन छठे दिन पूर्वाह्न और अपराह्न के सत्रों में हुआ और सातवें दिन समापन सत्र समायोजित हुआ । अन्तिम दो दिनों के लिये कोई निबन्ध नहीं लिखवाया गया था । उक्त विषयों की सामूहिक समीक्षा उनका प्रधान लक्ष्य था । यहाँ ऐतिहासिक पक्ष के प्रधान वक्ता डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, दार्शनिक पक्ष के डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी और सांस्कृतिक पक्ष के डॉ० युगेश्वर थे । सूफी मत पर प्रधानतः डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने विशेष प्रकाश डाला ।

इस सप्तदिवसीय कार्यशाला के प्रथम पाँच दिनों में कुल अठारह निबन्धों का वाचन हुआ । इनमें बौद्ध तन्त्र पर पाँच, जैन तन्त्र पर चार, शैव तन्त्र पर चार, वैष्णव तन्त्र पर तीन तथा स्मार्त तन्त्र पर दो निबन्ध प्रस्तुत किये गये । शैव-शाक्त तन्त्र की कौल और क्रम शाखा पर भी निबन्ध लिखवाने का विचार था, किन्तु वह सफल न हो सका । निबन्ध-वाचन के बाद हुए विद्वानों के विचार-विनिमय को टेप कर लिया गया था । सोलह कैसेटों में संगृहीत इस पूरी सामग्री को परिष्कृत कर निबन्धों के साथ विज्ञ पाठकों के समक्ष “भारतीय तन्त्रशास्त्र” के नाम से प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है । इस तरह का हमारा यह दूसरा प्रयास है । इसके पहले सन् १९८८ में सम्पन्न हुई सप्तदिवसीय कार्यशाला का विवरण इसी पद्धति से हम “सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान” शीर्षक से सन् १९९० में विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर चुके हैं ।

कार्यशाला की अधिकृत भाषा हिन्दी और अंग्रेजी थी । सभी निबन्ध हमें इन दो भाषाओं में ही मिले, किन्तु विचार-विनिमय के समय संस्कृत भाषा का भी विनियोग हुआ, क्योंकि इस कार्यशाला के

उद्घाटन और समापन सत्रों के अध्यक्ष प्रो० एन० आर० भट्ट हिन्दी से स्वल्प परिचित थे । उनके साथ विचार-विनिमय में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के प्रसंगों को यहाँ हिन्दी भाषा में परिवर्तित कर दिया गया है । निबन्धों और उन पर हुए विचार-विनिमय को यहाँ अलग-अलग टाइपो में मुद्रित किया गया है और विभिन्न तन्त्रों का विवरण प्रस्तुत करते हुए प्रारम्भ में निबन्धों के लेखकों, वाचकों तथा विचार-विनिमय में भाग लेने वाले विद्वानों का उल्लेख कर दिया गया है ।

कार्यशाला में समागत विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया था कि तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर अब तक कोई कार्यशाला या विद्वद्गोष्ठी नहीं हुई । किन्तु बात ऐसी नहीं है । इस युग में तन्त्रशास्त्र के प्रतिष्ठापक पद्मविभूषण म० म० गोपीनाथ कविराज जी की देखरेख और प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी के संयोजकत्व में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में एक तन्त्र सम्मेलन हुआ था और उस समय प्रो० उपाध्याय जी के अथक प्रयास से एक प्रदर्शनी भी आयोजित हुई थी । इस कार्यशाला के अवसर पर भी इस तरह का लघुप्रयास किया गया । इसके लिये हम प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, भिक्षु लोसंग नोर्बू शास्त्री तथा उनके सहयोगियों को धन्यवाद देना चाहते हैं । इस प्रदर्शनी में प्रो० पी० पी० आपटे ने अपने मंडल सम्बन्धी चित्रों को प्रस्तुत किया । हम इनके आभारी हैं ।

समागत विद्वानों ने समापन सत्र में पूरी कार्यशाला में सम्पन्न हुए कार्यक्रमों पर सन्तोष व्यक्त किया । उन्होंने अपने कुछ बहुमूल्य सुझाव भी दिये । तदनुसार कुछ संशोधनों के साथ यह पूरी सामग्री यहाँ प्रस्तुत की गई है । उनकी सन्तुष्टि पर ही इस कार्य की सफलता निर्भर है । विचार-विनिमय में भाग लेने वाले अधिकांश विद्वानों ने हमारी प्रार्थना पर अपने-अपने वक्तव्यों को सावधानी पूर्वक देखने की कृपा की है । हम उन सबके आभारी हैं । इस पूरी कार्यशाला पर एक समीक्षात्मक पर्यवेक्षण प्रस्तुत करने का हमारा विचार है । इस कार्य में प्रो० नथमल टाटिया जी ने सहयोग करने का हमें आश्वासन दिया है । हमें आशा है कि प्रस्तुत विवरण के प्रकाशन के बाद यह भी सम्पन्न हो सकेगा ।

कैसेटों में टेप की गई हिन्दी की पूरी सामग्री को बहुत धैर्य के साथ लिपिबद्ध किया है, दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के विद्वान् सदस्य डॉ० ठाकुरसेन नेगी एवं श्री विजयराम वज्राचार्य ने । अंग्रेजी

सामग्री को लिपिबद्ध करने में हमें इस संस्थान के पुनरुद्धार अनुभाग के विद्वान् सदस्य श्री पेन्पा दोर्जे जी का सहयोग मिला है । अंग्रेजी भाषा के संशोधन एवं सम्पादन में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधना के निदेशक प्रो० एस० एस० बहुलकर ने तथा उनकी अनुपस्थिति में इस संस्थान के संस्कृत विभाग के वरिष्ठ विद्वान् प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र ने तथा हिन्दी भाषा की सामग्री के सम्पादन एवं संशोधन में प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, पण्डित जनार्दन पाण्डेय, डॉ० बनारसीलाल तथा श्री ठिनलेराम शाशनी ने अथक परिश्रम किया है । कार्यशाला की पूरी कार्यवाही का विवरण अंकित करने में इस संस्थान के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डॉ० बाबूराम त्रिपाठी, डॉ० रामजी सिंह, श्री पेमा तेन्जिन आदि को नियुक्त किया गया था । इनके प्रस्तुत किये गये विवरण के आधार पर इस पूरी सामग्री को क्रमबद्ध किया जा सका है । कम्प्यूटर के माध्यम से सुरुचिपूर्ण पद्धति से इस पूरी सामग्री को प्रस्तुत किया है श्री एम० एल० सिंह ने । इन सबके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं, इन सबको धन्यवाद देते हैं ।

निबन्ध लेखकों और विचार-विनिमय में भाग लेने वाले सभी विद्वानों का भी हम आदरपूर्वक आभार मानते हैं । ध्वनियन्त्र में दूर की आवाज के अंकित न हो पाने अथवा कैसेट के बदलते समय विद्वान् वक्ताओं के कुछ वाक्यों के छूट जाने से हम उनके प्रति क्षमा-प्रार्थी हैं । अन्त में हम दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के सभी सदस्यों को धन्यवाद देते हुए इस कथ्य को समाप्त करते हैं ।

सारनाथ

१७ दिसम्बर, १९९५

एस० रिनपोछे

निदेशक

हुआ, उत्तर वैदिक काल में, तब भी यह निश्चित नहीं था कि शूद्रों का अधिकार नहीं है, इसका प्रमाण जैसा मैंने पहले कहा कि मीमांसा और वेदान्तसूत्र में है। यहां एक अपशूद्राधिकरण है, उसमें बादरि आदि के जितने भी पूर्वपक्ष हैं, वही प्रमाण इसमें है कि कुछ लोग थे जो कि यह मानते थे कि शूद्रों को अधिकार है, अधिकांश ब्राह्मणों में शूद्रों को अनुपयुक्त कहा गया है, किन्तु ब्राह्मणों में जो बात कही गयी है, वह वेद की व्याख्या के रूप में थी। वह स्वयं तब अनर्ह नहीं माना जाता था, वह तो उन ऋषियों के द्वारा रचित सूक्तों से प्रमाणित है फिर डॉ० पाठक जी की वह बात सही है कि शूद्रों के आने पर भी वैदिक काल में चातुर्वर्ण्य सर्वथा जन्ममूलक था, यह निश्चित नहीं था। वेद यानी जो मूल मन्त्र थे, उनमें अधिकार तीन वर्णों का ही था, तीन जातियों का था, यह कहने में हम जो वेद के परवर्ती युग की परम्परा है, उसको प्राचीन युग में आरोपित कर देते हैं, क्योंकि यह चार वर्णों की व्यवस्था धीरे धीरे पैदा हुई है, धीरे धीरे जन्माश्रित हुई है। प्राचीनतम युग में तीन ही वर्ण थे और चार वर्ण होने के बाद भी वह प्रारम्भ में सहसा जन्मना नहीं थी और उनके आविर्भूत होने पर भी अनेकों का यह मत था कि यह वेद का अधिकार सिर्फ तीन वर्णों को ही नहीं है। इसलिये मेरा कहना है कि वेद का मूल लक्षण यह नहीं कहा जा सकता कि वह जातियों के अनुसार नियन्त्रित त्रैवर्णिक है। यह बाद की वैदिक परम्परा का लक्षण है, यह बात सही है, लेकिन बाद में पैदा हुआ लक्षण बदल भी सकता है। मूल वेद क्या है, मूल वैदिक धर्म क्या है? इसकी व्याख्या सूत्रों के हिसाब से क्यों की जाय? सूत्रों के अन्दर भी बदलती हुई बातें हैं, इसलिये मैं इस आधार पर वेद और निगम-आगम का भेद करना ठीक नहीं समझता, इसमें तो बाद की दो सामाजिक परम्पराओं का भेद है, यह कोई मूल धर्म का भेद नहीं है, यह मैं कहना चाहता हूँ। इतिहास के बारे में बहुत चर्चा होती है। इतिहास तो कोई सर्वग्राही प्रमाण नहीं है, कोई यह नहीं कहता कि इतिहास से सब कुछ पता चलता है। इतिहास का अर्थ सामान्यतः यही होता है कि जो विदित मानवीय घटनाएँ हैं, मानवीय सामाजिक घटनाएँ, उनके कालक्रम में कार्य-कारण सम्बन्ध देखकर आप उनके बारे में समझने की चेष्टा करते हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध, कालक्रम के विषय में सब बातें समझ में नहीं आती। कुछ समझ में आती है, कुछ समझने में सहायता मिलती है। जो बात सूत्रों में लिखी है, उसको आप मान लेंगे कि यह वेद की ही बात है, ऐसी बात तो नहीं है। वेद के बारे में जो श्रौतसूत्रों में है या गृह्यसूत्रों में या धर्मसूत्रों में है, स्मृतियों में है, वह सब वैदिक युग का था या पूरा वैदिक साहित्य प्राचीन से अर्वाचीन तक एक ही है, जो प्राचीन मन्त्र है संहिता का वही काल है, जो कि ब्राह्मणों का है, जो उपनिषदों का है। वह सब मानने से भ्रान्ति हो सकती है। आप कहेंगे यह सारा ढाड़मय एक ही युग का है। हजारों-हजारों वर्ष का है वैदिक युग ही, मुझे ऐसा लगता है। इतना विशाल है, जितना कि पूरा परवर्ती वेद का काल है।

चार हजार वर्ष पूर्व आप मानते हैं ईसा से, तो कम से कम एक हजार ईसापूर्व तक आता है संहिताओं के संग्रह का काल। तीन हजार वर्ष

तक समय है, तो सारे वेद को एक साथ संग्रह कर देना और उसके लक्षणों को वेद के बाद की जो परम्परा बनी है, उसके हिसाब से निर्धारित कर देना, यह एक ऐतिहासिक भ्रान्ति ही है। वैसे विश्वास की दृष्टि से तो आप मान ही सकते हैं। कह भी सकते हैं कि यही वास्तविक तात्पर्य था। यह कह सकते हैं कि बाद में कहा, लेकिन वह उपेक्ष्य है। यही वास्तविक था, उस ज़माने में भ्रामक बात कह रहे थे। वह तो अपनी निष्ठा की बात है। इस पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता। शंकराचार्य ने अपशूद्राधिकरण में यह कहा है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इसमें स्मृतियों को उन्होंने उद्धृत किया है। उन्होंने यह भी बाद में कहा—लेकिन ज्ञान के बारे में अधिकार का प्रश्न उठता ही नहीं है। ज्ञान है तो शूद्र है तो क्या ज्ञान तो हो ही जाता है। उनके मन में मुख्य बात यही थी कि ज्ञान ही असली चीज़ है और उसमें जाति नहीं है और जो उनसे संबद्ध प्रसिद्ध कथा है कि चाण्डाल के साथ उनका सम्पर्क काशी में हुआ, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसलिये कि अगर ऐतिहासिक नहीं होती तो चौदहवीं शताब्दी में इसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि चाण्डाल को अधिकार दिया जाय, चाण्डाल को अलग न माना जाय। यह जो तर्क दिया है कि चाण्डाल और ब्राह्मण का भेद तो शरीरगत भेद है, यह तो आध्यात्मिक भेद नहीं है, तो आप कैसे अद्वैत को मानते हुए दोनों को अलग-अलग मान रहे हैं, उन्होंने कहा कि यह तो भ्रान्ति है तो इस तरह की बात मध्ययुग में नहीं हो सकती थी। ऐतिहासिक नहीं होती तो इसका उल्लेख इतिहास में आता ही नहीं। इसलिये मैं यह कहता हूँ कि पुरानी परम्परा क्या थी, इसको समझने के लिये इतिहास एक उपयोगी साधन है, किन्तु उससे सब बातें सिद्ध नहीं होती और सब बातें प्रभावित नहीं होती, यह मैं कहना चाहता हूँ। देखिये ये सारे विषय, जिनकी आप चर्चा कर रहे हैं, उन पर बहुत मतभेद हैं। इस तरह का आग्रह नहीं होना चाहिये कि जो बात हमने कही है, या प्रकाशित की है, वही एक बात सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जायगी। वैदिक युग में वर्णों के सहयोग के ऊपर मेरे कई सौ सफे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कि सारे वेदों के उद्धरण दिये गये हैं, उनका विमर्श किया हुआ है। मैं यह नहीं कहता कि इस मत को आप स्वीकार कीजिये, लेकिन मैं यह कहता हूँ कि यह कहना बहुत ही सदिग्ध लगता है कि वेद और आगम का भेद इस बात पर पूरी तरह से आधारित है कि उसमें अधिकार किसका है? यह बात दूसरी है कि बाद की परम्पराओं में ऐसा भेद मिलता है।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

अब इस चर्चा को हम लोग यहीं समाप्त करें। अन्य जो विषय हैं, उनमें से एक है पीठ। तन्त्रों में चार पीठ प्रसिद्ध हैं। उनमें से कामरूप पीठ के विषय में विवाद नहीं है, किन्तु जालन्धर, ओडियान और पूर्णगिरि ये तीन पीठ कहाँ स्थित हैं, इसके विषय में विवाद है। इस विषय में बहुत संक्षेप में ही चर्चा हो तो अच्छा रहेगा। कायपूजा तन्त्र की एक विशिष्ट पूजा है। उसके साथ जुड़ा हुआ है एक ही जन्म में मुक्ति का प्रसंग। पहले पीठों के बारे में यदि कोई सही-सही जानकारी दे सके, तो हम लोग बहुत

उपकृत होंगे । इस विषय को मैं थोड़ा स्पष्ट कर दूँ । ओडियान पीठ के विषय में विद्वानों में दो तरह के मत हैं । एक मत के अनुसार ओडियान पीठ उड़ीसा में स्थित है, दूसरा मत कहता है कि ओडियान पीठ कश्मीर में है । ओडियान पीठ की जो देवता है, वह है त्रिपुरा और त्रिपुरा का आविर्भाव ओडियान पीठ में हुआ यह भी प्रसिद्ध है । इसका प्राचीन साहित्य कश्मीर में ही मिलता है । इन्द्रभूति इत्यादि बौद्धाचार्य ओडियान पीठ के ही निवासी माने जाते हैं । मैं समझता हूँ कि ओडियान पीठ कश्मीर में होना चाहिये, उड़ीसा में नहीं । पूर्णगिरि पीठ के बारे में यह मान्यता है कि पूर्णगिरि आज का कोल्हापुर (महाराष्ट्र) है, जहाँ महालक्ष्मी का मन्दिर विद्यमान है । किन्तु इन चारों पीठों की स्थिति हिमालय के अन्तराल में होनी चाहिये । ज्वालामुखी के मन्दिर की जालन्धर पीठ के रूप में मान्यता है । कांगड़ा में वज्रेश्वरी देवी का मन्दिर है और वज्रेश्वरी देवी इस पीठ की, जालंधर पीठ की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है । मेरी समझ में यह पीठ यही होना चाहिये, जिसका पुराना नाम नगरकोट था । अब यदि हम इस पर चर्चा चला सकते हों तो अच्छा है, नहीं तो इस विषय को यहीं रोक कर आगे कायपूजा और एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त पर विचार कर सकते हैं । एक जन्म में मुक्ति का प्रसंग काशी से जुड़ा हुआ है । काशी में एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त "काश्या मरणान्मुक्तिः" इस वचन से सिद्ध है । अब मैं विद्वानों से निवेदन करूँ कि इसके विषय में कुछ चर्चा हो ।

प्र० लक्ष्मीनारायण तिवारी

"काश्या मरणान्मुक्तिः" यह तन्त्र में आ गया ?

प्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

यह इसलिये आ गया कि तन्त्र के एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त से मैं उसको जुड़ा हुआ समझता हूँ ।

प्र० सेम्पा दोर्जे

पीठों के बारे में अभी प्रश्न उठा है । पूर्णगिरि तो मुझे नहीं मालूम । पूर्णगिरि नाम का पीठ इधर दूसरे तन्त्रशास्त्रों में मिलता है । पीठों के बारे में जो पुराणों में विवरण मिलता है और बौद्ध तन्त्रों में जो विवरण मिलता है, उन दोनों में कुछ साम्य है, लेकिन बौद्ध तन्त्रों में पूर्णगिरि नाम हमको नहीं मिलता ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

पूर्णगिरि का एक मन्दिर कुमायूँ में है, उसकी इष्टदेवी त्रिपुरसुन्दरी है ।

प्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

यह किस जगह है ?

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

अल्मोड़ा के आगे ।

पं० जनार्दन पाण्डेय

टनकपुर से आगे चल करके एक स्थान है पूर्णगिरि । नाम कुछ बदल गया होगा, आजकल उसे पुण्यगिरि कहते हैं और यह देवी का पीठ है । मुझे यह मालूम था पहले से ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

पुण्यगिरि तो पुराना नाम है, पूर्णगिरि आजकल का नाम है । वह सिद्ध-पीठ है या नहीं, इसका शास्त्रीय विवरण हमें नहीं मिला । दूसरा आपने जालन्धर पीठ का जो प्रश्न उठाया, उसमें कुछ आचार्यों का विवरण भी मिलता है । आजकल के जालन्धर शहर से हट करके थोड़ी दूर पर एक छोटा गांव है । उस गांव में छोटा सा पुराना मन्दिर है । उस मन्दिर के नीचे बहुत बड़ी शिला है । उस शिला का रूप बायां हाथ नीचे करके सोई हुई स्त्री के जैसा है । उसके ऊपरी स्थान पर वह मन्दिर बना हुआ है । उस मन्दिर को जालन्धर पीठ कहा जाता है । जालन्धर पीठ का प्रतीक वही है । ज्वालामुखी का स्थान उसके आसपास आता है, वह पौराणिक विवरण से मिलता है, लेकिन वह तान्त्रिक पीठ उससे थोड़ा हटकर है । दूर तो नहीं है, लेकिन उससे कुछ दूसरा है ।

ओडियान का जहां तक प्रश्न है वह इधर बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है । आचार्यों के ग्रन्थों में इसका विवरण भी मिलता है, जो इस समय उपलब्ध है । उसके मुख्य स्थान को निर्धारित करने के लिये यह बताया गया है कि जहां सिन्धु नदी समुद्र में प्रवेश करती है, उसके तट पर यह पीठ है । वहां वज्रगज नाम का बहुत बड़ा मठ-विहार था । वही से सारे तान्त्रिक ग्रन्थ निकले हैं या लाये गये हैं । जैसे कि आचार्य गूढपाद का विवरण है । वहां के जितने योगतन्त्र हैं, उनको भारत देश या मगध देश में लाया गया है । वह पीठ जहां तक मेरा ख्याल है, शिवागम से संबद्ध प्रतीत होता है । इस पीठ की जो देवता है और देवी है, या अधिष्ठात्री और अधिष्ठाता है, उसके बारे में भी जो विवरण मिलता है, वह शिव से सम्बद्ध है ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं श्रीमती पाण्डेय का आभारी हूँ कि उन्होंने जिस स्थान का परिचय दिया, पीठों की जो शृंखला है, उसमें वह स्थान आता है, क्योंकि हिमालय की जो शृंखला है, उसीमें ये चारों पीठ होने चाहिये और आपने जो स्थान बतलाया, वह सम्भवतः यह हो सकता है । इसके बारे में यदि और कुछ जानकारी लोग दे सकें, तो अच्छा होगा ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

अब मैं इस विषय में और खोज करूँगी, यह मैं आपको आश्वासन देती हूँ ।

प्र० कामेश्वरनाथ मिश्र

इस विषय में यह निवेदन करूँगा कि श्रीमती पाण्डेय जी की यह सूचना निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पूर्णगिरि का सम्बन्ध शांकर-पीठों से भी है और जो उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठ है, वहाँ के देवता नारायण और देवी पूर्णगिरि ही हैं । शांकर-परम्परा में त्रिपुरसुन्दरी का पूजन परम्परा से चला आ रहा है । वहाँ नाम तो नहीं दिया गया है, लेकिन देवता का नाम पूर्णगिरि ही रखा गया है । श्रीमती पाण्डेय की उक्ति से यह बात स्पष्ट हो गई कि वहाँ त्रिपुरसुन्दरी की पूजा होती है, नाम पूर्णगिरि अवश्य है, किन्तु अधिष्ठात्री देवी त्रिपुरसुन्दरी ही होगी । हम समझते हैं कि शांकर-परम्परा के जो साधक आचार्य हैं, उनसे सम्पर्क किया जाय तो वह सम्भवतः इस विषय में और प्रकाश डालेंगे अथवा उस क्षेत्र में रहने वाले, जैसे श्रीमती पाण्डेय ने बतलाया, और भी कोई संन्यासी या विद्वान् हो तो उनसे सम्पर्क किया जाय, तो इस दिशा में काफी सूचना मिल सकती है ।

प० जनार्दन पाण्डेय

इस सम्बन्ध में मेरा एक निवेदन है । इसके लिये सूचना की आवश्यकता ही नहीं है । आदि शंकराचार्य ने जो चार पीठ स्थापित किये, उनमें जोशीमठ भी एक पीठ है । चारों पीठों के लिये उन्होंने व्यवस्था बनाई है, मठाम्नाय नामक ग्रन्थ में । यह पुस्तक सर्वत्र मिलती है । उसमें उन्होंने चारों पीठों के लिये किस पीठ का कौन देवता है, कौन उसके आचार्य हैं और कौन उपाचार्य हैं, यह सारा विवरण दिया है । उसमें पूर्णगिरि को ज्योतिष्पीठ और देवी को पूर्णगिरी माना है और त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के आधार पर उसकी पूजा होती है । हमारी भी वही इष्टदेवी है । इसलिये हम उस विषय में जानते हैं । वह पूर्णगिरी देवी भी है और पूर्णगिरि पीठ भी है । वहाँ कोई मन्दिर नहीं है । सती के अंगों का जब क्षरण हुआ, उस समय नासिका उस स्थान पर गिरी । इसलिये वह नासिका के आकार का एक पर्वत है । केवल उस पर्वत को ही पूरा पीठ मान लिया गया है । इस पर्वत के शिखर पर लोग जाते हैं और वही स्थापित प्रस्तर-खण्ड की देवी के रूप में पूजा होती है । इसी को पूर्णगिरि पीठ माना जाता है ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

त्रिपुरसुन्दरी का मन्दिर कहा है ?

प० जनार्दन पाण्डेय

त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के विधान के आधार पर उसकी पूजा होती है, इसलिये लोग उसके त्रिपुरसुन्दरी मानते हैं। मठाम्नाय ग्रन्थ को देखें, जो बहुत प्रसिद्ध है। उसमें स्पष्ट निर्देश है कि जोशीमठ का जो पीठ है, उसी का नाम पूर्णगिरि है और उसकी देवी भी पूर्णगिरि है, इन्हें भगमालिनी भी कहते हैं।

प्र० लक्ष्मीनारायण तिवारी

पीठ के लिये क्या मन्दिर का होना आवश्यक है ?

प० जनार्दन पाण्डेय

पीठ के लिये मन्दिर होना आवश्यक नहीं है। पीठ का तो मतलब होता है आधार, जहाँ पर बैठ कर आराधना करने से सिद्धि मिलती है।

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

मैंने वह ग्रन्थ देखा है, परन्तु उसकी भाषा ऐसी नहीं है कि उसे कोई प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सके। जिस मठाम्नाय ग्रन्थ की बात आप कर रहे हैं, उसे मैंने देखा है। बीच में कुछ शंकराचार्यों के झगड़े का प्रश्न आया था, तो उस समय वह ग्रन्थ देखने की आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु वह जिस संस्कृत में लिखा गया है, वह संस्कृत अवश्य ही अत्यन्त बाद की संस्कृत है और उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर मुझे पर्याप्त संदेह है। इसलिये उसके आधार पर कोई निर्णय लेना मेरी दृष्टि से उचित नहीं है।

प० जनार्दन पाण्डेय

मठाम्नाय ग्रन्थ की संस्कृत आधुनिक है, इसलिये उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, यह एक दूसरी बात है, परन्तु जो चार पीठ हैं, उन पीठों के लोग उस आधार पर पूजा करते हैं और करते आ रहे हैं, यह तो आप मानेंगे। मठाम्नाय की संस्कृत को आप न मानें, आधुनिक मानें, प्रामाणिक न मानें, लेकिन उन पीठों में आद्य-शंकराचार्य के समय से आज तक जिस परम्परा से पूजा हो रही, जो उसके आचार्य माने जाते हैं, उपाचार्य माने जाते हैं, जो पीठ माने जाते हैं, जो देवी मानी जाती है, वह तो परम्परा चली आ रही है। उस पर आपको कोई संदेह नहीं होना चाहिये।

प्र० लक्ष्मीनारायण तिवारी

प्रश्न यह है कि मठाम्नाय तो अलग है। इस पर बड़ा विवाद है कि उत्तर में शंकराचार्य जी गये थे या नहीं। उनकी केदारनाथ की यात्रा और वहाँ पर शरीरत्याग की बात पर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद यह बात प्रचलित हुई कि उत्तर में भी एक मठ शंकराचार्य जी ने स्थापित किया था। दूसरी बात यह है कि यहाँ तो प्रत्येक चीज पर विवाद है कि जोशीमठ सही है कि नहीं ? मठाम्नाय आधुनिक है या उसमें प्राचीन तथ्य हैं ? दो प्रश्न ब्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने उठाये हैं— एक तो किसी पीठ की

भौगोलिक स्थिति और दूसरी शरीर में स्थिति । एक तो बताइये भूगोल में पीठ और दूसरा बताइये साधक के शरीर में पीठ कहाँ है ? तो ये दो प्रश्न हैं । कुछ उड्डियान को अफगानिस्तान में भी कहते हैं, उड़ीसा में भी कहते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि कामरूप के बगल में है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने इस पर बड़ा विवाद किया है । उनके पुत्र विनयतोष भट्टाचार्य ने और कुछ लिखा है, तो यह तो विवादित विषय है, इसको हम कहाँ से तय कर सकते हैं । यह तो अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार मानने का विषय है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

जहाँ तक आन्तर पीठ की स्थिति है, वह तो स्पष्ट है । हम लोग इतना अन्तर्मुख हो गये कि बाहर का सब भूल गये । पूर्णगिरि के बारे में जो परिचय मिला, वह तो मैं समझता था ठीक है, किन्तु वहाँ शास्त्रों में उसकी देवी भगमालिनी बताई गई है । यह वहाँ नहीं है, तो यह फिर विवाद का विषय हो गया । अभी हम लोगों के बीच में खिस्ते जी आये हैं । प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते इन चारों पीठों की स्थिति पर यदि कुछ प्रकाश डाल सके, तो अच्छा हो । हमारे बीच में पंडित दिव्यवज्र वज्राचार्य जी भी हैं, वह भी इस बारे में कुछ कह सके, तो हमारे ज्ञान में वृद्धि होगी ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

यह पीठ जो है, यह प्रतीक है और यह मन्त्रात्मक है । यह स्थूल रूप में भी है, मूर्त देवता के रूप में भी यह हो सकता है । कालान्तर में साधकों ने अपने निकट प्रान्त में इन पीठों का प्रतिबिम्ब मान लिया हो, जो दूर से नहीं जा सकते थे, ऐसा कई जगह हुआ है । इसलिये उस देवता के भिन्न भिन्न कई मन्दिर मालूम पड़ते हैं । पूजा इस क्रम से है—कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और उड्डियान । इनका पीठन्यास आदि में विन्यास होता है । उनका सूक्ष्म रूप है, स्थूल है और बाह्य रूप भी है, तो इस पर विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

ओडियान के विषय में इस समय भ्रान्ति हम लोगों को भी है और लोगों को भी है । ओडियान और ओडिविष्टपम् यह दो अलग चीज हैं, दोनों को आज हमने एक कर दिया है, इसलिये मिश्रित हो गया है और इसीलिये वह भ्रान्ति हो गई है । ओडिविष्टपम् यह उड़ीसा है । ओडियान सिन्धुघाटी वाला जो हमने कहा था, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने कहा—इन्द्रभूति का जो स्थान है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक ही जन्म में मुक्ति की चर्चा शैव तन्त्र हो, या शाक्त तन्त्र हो, या बौद्ध तन्त्र, सर्वत्र हुई है । पुराणों में भी जहाँ वाराणसी इत्यादि का प्रसंग आता है, उसी जन्म में मुक्ति की बात स्वीकार की गई है । शिव की उपासना करने से, शक्ति की उपासना करने से या भगवान् बुद्ध की उपासना करने से व्यक्ति

एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है, यह सिद्धान्त गीता के, "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इस सिद्धान्त से विपरीत पड़ता है। ठीक इसी प्रकार का सिद्धान्त महायान में भी है कि व्यक्ति अनेक जन्मों के उद्योग के बाद ही मुक्ति पा सकता है। मन्त्रयान में कहा गया है कि यहां ऐसी स्थिति नहीं है, यहाँ तो एक जन्म में, दो जन्म में, या तीन जन्म में ही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अवधूतसिद्ध का भक्तिस्तोत्र अब प्रकाशित हो चुका है, उसमें एक श्लोक है। वे कहते हैं कि आपके मत में तो अनेक जन्म हैं, आपको अवसर है कि अपने मत में रह करके आप कभी मुक्ति प्राप्त कर लीजिये। किन्तु हमारे यहां तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है—“यत् तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयैर्नासाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम्। तच्चैकजन्मिकमिति ब्रुवता निगृह्य तेषां त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु ॥” (श्लो. ३०)। यह प्रतीकात्मक भी हो सकता है, किन्तु यह सिद्धान्त आज की भारत की सामाजिक स्थिति के लिये बहुत उपयोगी है। आज भारत में ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायी भी बसते हैं। वे एक ही जन्म मानते हैं, दूसरा जन्म मानते ही नहीं। उनके सामने परेशानी यह है कि वे तब तक कहाँ किस अवस्था में रहते हैं, जब तक कि उनके विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो जाता। क्या आज की इस सामाजिक स्थिति के लिये यह तान्त्रिक सिद्धान्त कुछ उपयोगी हो सकता है ?

दूसरी बात यहां जो पाशाष्टक है, उसमें जाति को आग्रह बतलाया गया है। आजकल जाति-तोड़ो आन्दोलन बहुत होते हैं, पर मैं समझता हूँ कि जाति को तोड़ पाना मुश्किल है, किन्तु उसके साथ एक जो तन्त्र का सिद्धान्त है समता का, इस समतादृष्टि को हम ला सकते हैं। ऊँच-नीच की जो भावना हम लोगों में है, उसको हम कम कर सकते हैं। इसके लिये तन्त्रों में ही नहीं, पुराणों में भी प्रयत्न हुआ है। मुकुटसहिता का एक श्लोक मैं आपको सुना दूँ—

ब्राह्मणेन कृतं पाप शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।

किमत्र कारणं जातिः पुण्यापुण्येषु शस्यते ॥

पुण्य और पाप के लिये, कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति पुण्य ही करेगा और जिसको हम नीच वर्ण का कहते हैं, वह पाप ही करेगा, यह जरूरी नहीं है। कोई भी पाप और पुण्य कर सकता है। तो हम जो पुण्य करता है, जो पवित्र काम में लगा हुआ है, उसको वरीयता दे और जो निकृष्ट काम करता है, उसको वरीयता न दें। गुणों के आधार पर यदि हम श्रेष्ठता और कनिष्ठता का निर्णय करें, तो तन्त्रशास्त्र के इस सिद्धान्त की हम आज के परिप्रेक्ष्य में किस तरह स्थापना कर सकते हैं, इसके बारे में थोड़ा आप बतलावें।

आचार्य नवंग समतेन

चूँकि यहां तन्त्रशास्त्र की अनेक परम्पराओं के विद्वान् हैं, इसलिये मैं यह पूछना चाहता हूँ कि जैसे एक ही जन्म में सिद्धि की बात कही जाती है, यह

तो बौद्धों के अनुत्तर तन्त्र की विशेषता मानी जाती है कि हम कषाय युग के हैं, अर्थात् साठ-सत्तर, अस्सी वर्ष में ही बुद्धत्व की प्राप्ति की जा सकती है, लेकिन जो क्रियातन्त्र आदि में एक जन्म में सिद्धि की बात की जाती है, उसमें अपने जन्म को बढ़ा कर, सैकड़ों-सहस्रों वर्ष तक का करके उसीमें की जाती है, न कि कषाय युग के एक जन्म में। इस तरह की अनेक परम्पराएँ हैं। इसके विषय में हम आपसे स्पष्टीकरण चाहते हैं।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

एक ही जन्म में मुक्ति की जो प्रक्रिया है, वह स्पष्ट है। वहां बतलाया गया है कि मानव का चित्त मल से आवृत है। मल की अलग-अलग परिभाषा हो सकती है। मणि जमीन में दबी पड़ी है तो उसकी कान्ति स्पष्ट नहीं रहती, जब वह साण पर चढ़ जाती है तो वह चमकने लगती है। ठीक इसी प्रकार साधना के बल से मल के हटने पर मन चमकने लगता है। उसको बौद्ध दर्शन में प्रभास्वर-चित्त नाम दिया गया है। यह प्रभास्वरचित्तता ही अन्य दर्शनों में जीवन्मुक्ति कही गई है। इस स्थिति में काश्मीर दर्शन के अनुसार केवल आणव मल बचा रहता है, मायीय और कर्म मल तब समाप्त हो जाते हैं। केवल आणव मल इसलिये रहता है कि जिन प्रारब्ध कर्मों से यह शरीर मिला, उन सबका जब तक भोग पूरा नहीं हो जायगा, तब तक शरीर रहेगा। अब इस भोग के पूरा होने में भी अनेक प्रसंग हैं। योगी अनेक शरीर धारण करके बहुत जल्दी भी उनका भोग कर सकता है या स्वाभाविक रूप से जितना हो उसका भोग कर सकता है। किन्तु अन्त में दोनों प्रकार के अज्ञान का नाश हो जाने पर साधक मुक्त हो जाता है। पौस्न और बौद्ध (बुद्धिगत) के भेद से द्विविध अज्ञान यहां वर्णित है। मन की प्रभास्वरता से बौद्ध (बुद्धिगत) अज्ञान तो नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के उपभोग के साथ पौस्न अज्ञान भी जब निवृत्त होगा, तो उसे प्रत्यभिज्ञा का लाभ होगा। यह सारी प्रक्रिया एक ही जन्म में पूरी हो जाती है। इसमें मुख्य उपादान चित्त की प्रभास्वरता है। यह अनुत्तर तन्त्र से भी प्राप्त हो सकती है और क्रियातन्त्र से भी। साधक के प्रयत्न के उत्कर्ष के साथ ही काल की अल्पता अथवा दीर्घता को जोड़ा जा सकता है।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

बौद्ध तन्त्रों की दृष्टि से यदि प्रो० येशे थपख्ये जी या प्रो० सेम्पा दोर्जे जी इस पर प्रकाश डालें, तो अच्छा रहता कि इसी जन्म में परम पद की प्राप्ति कैसे होती है। फिर भी मैं संक्षेप में अपने विचार रख रहा हूँ। इसी जन्म में बुद्धत्व की प्राप्ति को तन्त्र की विशेषता बतलाया गया है। मैं तो यह देखता हूँ कि बुद्धत्व की प्राप्ति, युगनद्ध की ही प्राप्ति बौद्धों में है, बौद्धों में परम पद की प्राप्ति को युगनद्ध की प्राप्ति कहा गया है। युगनद्ध में रूपकाय का उपादान कारक केवल तन्त्र में ही वर्णित है। देवता की भावना करना या अपने शरीर को परिणत करके उसमें देवत्व की भावना करना तन्त्र की विशेषता है। पारमितानय में यह नहीं है। पारमितानय में रूपकाय की प्राप्ति के कारण

दान देना, शील पालन करना, संवर का पालन करना, क्षान्ति पारमिताओं का आचरण करना, ये सब बताये गये हैं । उसके द्वारा रूपकाय की प्राप्ति बहुत संभव नहीं है । संवर भी रूपकाय का उपादान कारक नहीं बनता, उसी प्रकार क्षान्ति, समाधि, ये सब भी उपादान कारक नहीं बन सकते । पारमितानय में तत्त्वों की भावना, चतुष्कोटि निष्प्रपंच की भावना, शून्यता की भावना तो है, जो धर्मकाय की प्राप्ति के उपादान कारक माने जाते हैं, लेकिन रूपकाय की प्राप्ति का उपादान कारक अन्य यानों में नहीं है । वह मात्र तन्त्रयान में है । तन्त्र में देवभावना ही उपादान कारक है । यद्यपि देवभावना क्रिया, चर्या और योग तन्त्रों में भी है, लेकिन उन सबमें नाड़ी और वायु के योग के द्वारा, कुम्भक, रेचक और पूरक प्राणायाम के द्वारा विकल्पो को रोक कर, वायु को रोक कर प्रभास्वरता का प्रत्यक्षीकरण करने की साधनाविधि क्रिया-चर्या तन्त्रों में नहीं है, यह मात्र अनुत्तर योगतन्त्र में है । अनुत्तर योगतन्त्र की इस विशेषता के द्वारा, वायुयोग के द्वारा रूपकाय की परिनिष्पत्ति होती है, प्रभास्वर से रूपकाय का साक्षात्कार होता है । नाड़ी-वायु-योग द्वारा रूपकाय की उत्पत्ति प्रभास्वर से होती है । अनुत्तर तन्त्र की यह विशेषता है कि उसमें प्रदर्शित विधि से रूपकाय की प्राप्ति इसी जन्म में, इसी शरीर से हो सकती है । अरूपकाय में बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती । अरूप धातु का सत्त्व भी बोधि की प्राप्ति का अधिकारी नहीं है, क्योंकि वहां वायु नहीं है, नाड़ी नहीं है, वज्रदेह नहीं है । रूपधातु में भी यह संभव नहीं है, मात्र कामधातु में जिसके पास संपूर्ण वज्रदेह उपलब्ध है, उस वज्रदेह के द्वारा इसी शरीर में बुद्धत्व की प्राप्ति होना देवकाय की विशेषता है, अर्थात् तन्त्र की एक ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का कारण नाड़ी, वायु, तिलक योग ही हैं, ऐसा लगता है ।

आचार्य श्लेखन नमडोल

एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने की बात पर चर्चा चल रही है । एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये पारमितायान के चरमभक्तिक सत्त्व की स्थिति पर पहुंचे व्यक्ति की विशेषता आवश्यक है । तदनुसार अति-तीक्ष्ण बुद्धिवाला व्यक्ति ही एक जन्म में मन्त्रनय के आधार पर बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है । प्रश्न है कि यह अति-तीक्ष्ण बुद्धि किस कारण से होती है ? अति-तीक्ष्ण बुद्धि प्राप्त करने के लिये पूर्व जन्म में इसने जो कुछ किया है, उसकी स्थिति कैसी होनी चाहिये ? पारमितायान में जो चरमभक्तिक स्थिति में पहुंच जाता है, उसकी जैसी स्थिति होनी चाहिये या उसके अलावा होनी चाहिये ? वैसे तो उसकी स्थिति अलावा होना चाहिये, क्योंकि तन्त्रशास्त्र की यह अपनी विशेषता है । वे भी इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त कर सकने की जो बात कहते हैं, वह भी सब सामान्य आदमियों में नहीं हो सकती, वे भी केवल तीक्ष्ण बुद्धि वाले खास आदमियों में ही होने की बात कहते हैं । खास व्यक्ति किस तरह का होना चाहिये, उसमें क्या क्या गुण अपेक्षित हैं और किस किस गुण के न होने पर बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती ? इस विषय पर विचार करना बहुत जरूरी है । अगर तीक्ष्ण बुद्धि वाला खास हेतु के न रहने पर भी बुद्धत्व प्राप्त करता है, तब तो एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करना सबके लिये आसान

हो जायगा । वैसा तो नहीं हो रहा है । इसलिये तीक्ष्ण बुद्धि का क्या कारण होना चाहिये, यह विद्वानों के विचार का विषय है ।

आचार्य पी० ओग्यन तेनजिन

कुछ बातें मुझे भी कहनी हैं । यहां बड़े-बड़े विद्वान् लोग बैठे हुए हैं । काशीवास से व्यक्ति मुक्त हो जाता है, इस बात पर मुझे कुछ पूछना है । अगर कोई आदमी पटना में रहता है, वहां वह साधना करता है, तो उसकी मुक्ति नहीं होगी, केवल वाराणसी में ही आकर साधना करने से मुक्ति होगी, क्या ऐसी बात है ? या किसी विशेष व्यक्ति की कोई विशेष स्थिति है, जो पटना में साधना करते-करते मरने के समय काशी आ जायगा । इस विषय में हमको विशेष रूप से जानना है ।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

इस सम्बन्ध में मैं अपना संक्षिप्त विचार रखना चाहता हूँ । जैसी यहां की परम्परा है, स्कन्दपुराण और काशीखण्ड इत्यादि के माध्यम से ऐसा हम लोगों को बताया जाता है । काशी से बाहर मरने वालों की मुक्ति नहीं होती, ऐसी कोई बात नहीं है । अन्यत्र भी मुक्ति हो सकती है, अपनी तपस्या से, कर्मफल के अनुसार साधना के बल से । लेकिन काशी में जीवमात्र का प्राण-त्याग होने पर उसकी स्वाभाविक मुक्ति होती है, पुनर्जन्म नहीं होता । उसके लिये तान्त्रिक आधार भी माना जाता है कि भगवान् शिव उस मरने वाले प्राणी के पास पहुंच कर उसको तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं । इससे उसको ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है । इसीलिये व्यवहार में देखा जाता है कि कहीं अन्यत्र मरने वाले प्राणी को भी यहां लाकर मणिकर्णिका में उसका शवदाह किया जाता है । ऐसा भी लोग मानते हैं कि मरे हुए प्राणी का यहां शवदाह करते समय जो कपालक्रिया की जाती है, तब तक उसमें प्राणवायु रहती है, वह जब तक नष्ट नहीं होती, निकलती नहीं, तब तक वह पूरा मरा हुआ नहीं माना जाता । इसलिये उसको भी मुक्ति का अधिकार है, ऐसी मान्यता है । जीव को अपने अनन्त जन्म के पुण्यों के फल से ही काशी में मृत्यु प्राप्त होती है, यह परम्परा चली आई है और व्यवहार में भी माना जाता है, शास्त्रों में भी इसका उपदेश मिलता है । कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि काशी में मरने के लिये लोग रहते हैं, लेकिन अन्त समय में काशी से बाहर चले जाते हैं, उनका सस्कार पूरा नहीं होता, उनका पुण्य-फल पर्याप्त नहीं होता । इसलिये उनको मुक्ति नहीं मिलती । अब उसमें एक बात और उठती है कि काशी में तो हर तरह के लोग मरते हैं, तो क्या वे सब मुक्त हो जाते हैं ? उसके लिये भी मान्यता यह है कि यहां भैरवी यातना मिलती है, अन्य शरीर प्राप्त नहीं होता, पुनर्जन्म नहीं होता, लेकिन भैरवी शरीर, भैरवी यातना से उनको अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है । इसके बाद वे मुक्त हो जाते हैं ।

डॉ० किशोरनाथ झा

इस विद्वत्समिति से हमारी एक जिज्ञासा है कि जितने हमारे शास्त्र हैं, जितने दर्शन हैं, प्रायः मोक्ष के ही उपाय बताते हैं । अगर उस उपाय का अनुसरण किया जाय तो क्या उसको मुक्ति नहीं मिलेगी ? पुनर्जन्म की बात तो कर्मवाद पर आधारित है और तन्त्रशास्त्र के अनुग्रहवाद से प्रायः कर्मबन्धन छूट जाते हैं । इसलिये शाक्त साधना हो, वीरशैव साधना हो, वैष्णव साधना हो और उसी तरह से शास्त्रान्तर में भी जो विधि बताई गई है, उस विधि का पूर्णतः परिपालन करने पर इस जन्म में अवश्य मुक्ति होगी । तब तो "ज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगमः", "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" ये जितने हमारे शास्त्र हैं, वैदिक कर्मकाण्ड, तान्त्रिक कर्मकाण्ड हैं या ज्ञानोपदेश हैं, उपनिषद् हैं, सबके सब व्यर्थ हो जायेंगे, अगर उसका तात्पर्य इतना ही है । मैं समझता हूँ कि उसको समझकर उसका अनुसरण करे तो व्यक्ति अवश्य मुक्त होगा ।

प्र० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

इन सबमें एक स्तर है, तत्तत् शास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति एक एक स्तर से आगे बढ़ता है । न्यायशास्त्र के पढ़ने से बुद्धि विशद होगी, धर्मशास्त्र व्यक्ति के कर्म को नियन्त्रित करेगा, आदि आदि ।

डॉ० किशोरनाथ झा

लेकिन हम यह बात कैसे मानेंगे, क्योंकि पहला सूत्र तो गौतम का है—"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगमः" । यहाँ तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण बताया गया है ।

प्र० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण तो हो ही जायगा, लेकिन क्रमशः होगा । प्ररोचना है वह ।

डॉ० किशोरनाथ झा

यहाँ भी अर्थवाद नहीं है, इसको कौन मानेगा ।

प्र० रेवाप्रसाद द्विवेदी

हमने मुक्ति को मृत्यु से जोड़ दिया है । मरने के बाद मुक्ति, परन्तु पौराणिक षट्दर्भ ऐसे हैं, जिनमें शरीर अमृतत्व की प्राप्ति की चर्चा है । आप उस अमृतत्व को मुक्ति कहेंगे अथवा नहीं, शरीर से अमृतत्व की प्राप्ति होने के बाद मुक्ति का कोई स्थान रहेगा अथवा नहीं ? यह भी विचारना होगा । मैं स्पष्ट रूप में यह निवेदन करूँ कि नर्मदा खण्ड में अनेक इस प्रकार के आख्यान दिये गये हैं, जिनमें शरीर से व्यक्ति अमर हो जाता है । यदि शरीर हमारा अमर हो गया, तो हमारा दर्शन क्या होगा ? क्या हमारा दर्शन यही होगा जो निर्वाण का दर्शन है, या कहीं परलोक में जाने का दर्शन है ? क्या हम

बैठे समाधि लगाये रहेंगे ? या हम कुछ दूसरा कर्मकाण्ड करते रहेंगे ? या शिव और पार्वती के समान विचित्र आख्यानो के द्वारा अपना समय बितावेगे । समय भी, कालचक्र भी वहां पर आपके साथ रहेगा अथवा नहीं ? विद्वानों से अनुरोध है कि उस तरफ भी ध्यान दें । यह अलग प्रश्न है ? आवश्यक है या अथवा नहीं ? यदि मुक्ति है तो उसका क्या स्वरूप है ?

प्र०० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

जो देह में मुक्त हो गये हैं, वे काय में रहते हुए भी कालातीत रहते हैं, कालचक्र से याने काल से अतीत होते हैं । इसके उदाहरण वाराणसी के महात्मा तैलंग स्वामी और महात्मा कीनाराम हैं, जो काय से संयुक्त होते हुए कालातीत भी थे ।

प्र०० रेवाप्रसाद द्विवेदी

काल तो वहां रहेगा ही नहीं, मृत्यु और मुक्ति का सम्बन्ध भी यहाँ नहीं है । इसलिये वह मृत्युजय है और वह पूर्ण रूप से मुक्त भी । एक बात और समझने की है । अभी बौद्ध विद्वानों ने मुक्ति के स्थान पर बुद्धत्व की प्राप्ति शब्द का प्रयोग किया है । हम समझते हैं कि यह केवल शब्दमात्र का अन्तर है, जिसे हम जीवन्मुक्त कहते हैं, उसी को कदाचित् आप बुद्धत्व कह रहे हैं ।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

जीवन्मुक्त और बुद्धत्व में बहुत फरक है । इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमें सर्वज्ञता पर विचार करना होगा । जहां तक बौद्धों की सर्वज्ञता है, तथागत बुद्ध (शाक्यमुनि) पहले हमारी तरह ही पृथग्जन थे, सामान्य व्यक्ति थे । शुद्धोदन के पुत्र गौतम भी पूर्व में सामान्य जन ही थे । इन्होंने कल्पों-कल्पों में पुण्य का संचय किया और उसके पश्चात् उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया । बुद्धत्व की प्राप्ति के पश्चात् वे दशबल आदि अनेक गुणों से युक्त हो जाते हैं और तब वे धर्मकाय, संभोगकाय, निर्माणकाय का स्वरूप बन जाते हैं । उसी प्रकार यदि अन्य सामान्य जन भी पुण्य का संचय कर क्लेशमुक्त हो बोधि का अर्जन करते हुए बोधिचित्त के उत्पाद के बाद दस पारमिताओं की साधना और तन्त्र की सभी साधना करेगा, तो वह अवश्य बोधि को प्राप्त करेगा, सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा ।

प्र०० येशे थपख्ये

अभी जो विद्वानों ने मुक्ति के बारे में कहा, उस पर मुझे भी कुछ कहना है । बौद्ध सिद्धान्त में, बौद्ध तन्त्रों में मुक्ति की बात नहीं आती, सर्वज्ञता की बात आती है । हमारा मन जब क्लेशों से, क्रोध-मोह आदि से शुद्ध हो जाता है, उसी को मुक्त कहा जाता है । साधक इसी शरीर में रहते हुए मुक्त हो सकता है । उसके मर जाने के बाद क्या होता है ? वह जन्म नहीं लेता । फिर भी एक शरीर चाहता है । वह जैसा हमारा शरीर है, वैसा नहीं है । उसको कहा जाता है मनःकाय । योगी जब साधारण लोगों के सामने

मनःकाय धारण करेगा, तो वह अन्य व्यक्तियों को उसी रूप में दिखाई देगा, उसको समाप्त करना भी उसके हाथ में रहेगा । साधारण मनुष्य को कर्म और क्लेशों के द्वारा जन्म लेना पड़ता है, इसको छोड़ना भी पड़ता है । अपने वश में कुछ नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है । ऐसी स्थिति मुक्त की नहीं है । वह मुक्त होने के बाद पूर्ण रूप से खत्म हो जाता है, ऐसा नहीं है । एक वैभाषिक बौद्ध मत के अनुसार मुक्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है । न ज्ञान रह जाता है, न शरीर रह जाता है, न भेद रहता है, कुछ नहीं रहता । पांच स्कन्ध पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते हैं । लेकिन महायान और मन्त्रयान वाले यह कहते हैं कि मुक्ति के बाद भी इनकी स्थिति रह जाती है, आत्मा रह जाता है, पांच स्कन्ध रह जाते हैं, लेकिन वे साम्रव, अर्थात् क्लेशों की वासना से उत्पन्न पांच स्कन्ध नहीं रह जाते । मुक्त होने के बाद करुणा से प्रेरित हो दूसरों के लिये लाभदायक काम करना उसका लक्ष्य रह जाता है । कल्याण करने के लिये सर्वज्ञता अपेक्षित है । सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने के बाद एक क्षण भी ऐसा नहीं रहता कि वह लोककल्याण न करता हो ? जहां जहां उसका जो उपयोग होना चाहिये, वहां वहां वह पहुंच जाता है । एक जन्म में सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है, दो जन्म में भी, तीन जन्म में भी प्राप्त कर सकता है । एक जन्म में नहीं, तीन महीने में भी इसे प्राप्त कर सकता है । आयु बढ़ाने से भी वह हो सकता है ।

पहले बोधिचित्त हो, बोधिचित्त और करुणा से शून्यता का ज्ञान हो और शून्यता का ज्ञान होने के बाद तन्त्रमार्ग में प्रवेश कर चक्रों और उनमें स्थित सूक्ष्म नाडियों और वायुओं का ज्ञान प्राप्त कर वह तत्काल उनकी सहायता से अपनी वासनाओं का क्षय कर लेता है । मध्यमा में वायु का प्रवेश कराने के लिये ध्यान करता है कि वायु उसमें प्रविष्ट हो और उसके बाद उसमें स्थिर हो । यह जो माता-पिता से प्राप्त होता है, हम लोग उसे श्वेत और रक्त धातु कहते हैं । हम वृक्ष पैदा करते हैं, उसमें बीज बचा रह जाता है । उसी तरह से इस शरीर में भी होता है, उसी में सूक्ष्म वायु रहती है । उसमें वायु का पहले प्रवेश हो, फिर स्थिर हो, फिर विलीन हो जाय, विलीन हो जाने के बाद यह हो जाता है कि हम लोग मर जाते हैं । मरते समय इस जन्म की कल्पना सब भूल जाते हैं । सब भूल जाने के बाद जैसा आसमान शुद्ध हो, वैसा विचारशुद्ध ज्ञान केवल शुद्ध ही रहता है । उसमें कुछ प्रपंच नहीं रहता, केवल सूक्ष्म ज्ञान रहता है । वह मरने के समय सबमें होता है । वह मरने के पहले से जो वायु है, यहां स्थिर करके विलीन हो जाने से वह सब शून्यता का ज्ञान हो जाता है और सूक्ष्म ज्ञान से सूक्ष्म मन उत्पन्न हो जाता है, उसके द्वारा शून्यता का ज्ञान हम करते हैं । उसी रूप में वह देवता के रूप में अनुभव करता है । ऐसा करते करते सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म वायु दोनों भिन्न हो जाते हैं । सूक्ष्म वायु का वह साधक जैसा अभ्यास करता है, जिस इष्टदेव का हो, उसी के रूप में बन जाता है । अब यह सब देख रहा है, फिर विलीन हो जाता है । सब शून्यता ज्ञान में विलीन कर लेता है । फिर हम उसी रूप में प्रकाश में आ जाते हैं । वैसा करने के बाद यह हो जाता है कि सही

ढंग में सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म मन अभिन्न हो जाते हैं । वे देवता के रूप बन जाते हैं । उन्हें पुराने शरीर से अलग भी निकाला जा सकता है ।

उस समय जो शून्यता का ज्ञान हो गया, सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा शून्यता का ज्ञान हो गया, उसी ज्ञान की देवता की दीप्ति के रूप में जो अभ्यास किया है, उसी सूक्ष्म वायु वाला वह बन गया है, तो इस शरीर से अलग होता है । उसको वह कहता है कि यह मायाकाय है, वज्रकाय है । वज्रशरीर भी उसे कहा जाता है । मतलब यह है कि सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म वायु दोनों अभिन्न हैं, वह जो जैसा पहले से अभ्यास किया है, वैसा ही बन गया है । मायाकाय प्राप्त हो गया है तो इसके बाद में और कुछ वही जो वायु विलीन हो जाना, शून्यता के ज्ञान प्राप्त करना, फिर अभ्यास हो जाना ये जो मण्डल या देवधातु के रूप में, प्रकाश हो जाना, फिर वह विलीन हो जाना, ऐसा करके अन्त में सभी ज्ञान जैसा हम जब तक रूप में सोचते हैं । रूप है, ज्ञान भी है, शरीर भी है, वही सर्वज्ञ हो जाता है । तब वह सर्वज्ञान प्राप्त हो जाता है । इसीलिये ऐसा नियम है कि बहुत सूक्ष्म बुद्धिवाला बहुत जल्दी से सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है । इसमें तन्त्र की अपनी विशेषता है । इसमें यह सब पहले जो कहा गया है, उसमें मण्डल की वासना करना कहाँ कहाँ विलीन होना है, ये सब ऐसा अवश्य ठीक ढंग से बोलने का शब्द यह जो तन्त्र वाला आता नहीं ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं अब अध्यक्ष महोदय से निवेदन करता हूँ कि वे हमें अपने ज्ञान से लाभान्वित करने की कृपा करें ।

Prof. N. R. Bhatt

In this conference, we are meeting to discuss something on a common platform. If we have to discuss on a common platform, I think that an historical investigation is absolutely necessary. This kind of historical investigation has been started by Europeans. But it does not mean that we have to accept whatever they have told, because Europeans lack Indian wisdom. If Europeans come to India, work together with the people of wisdom in India, have discussion, make a historical study, then the historical study will be useful. In India, there existed many religions side by side, even before Vedic culture. The tantric religion existed side by side with Vedic religion-tantric and Vedic religions are absolutely different, they have no connection. That does not mean that tantric religion is anti-Vedic, or the tantric religion is not the essence of Vedas. Both are ways to approach the goal. Each religion has stressed the approach in its own way. Tantric or Vedic literature prescribes the real approach to the supreme. Why ? Because everybody wants eternal happiness. There are two kinds of happinesses; a limited happiness as could be obtained from the sacrifices such as *Jyotistoma*. You perform a sacrifice just for *svarga*, you live there for some time and come back. It is immediate happiness. Even in this world itself, you can have some happiness. That is why in tantric literature the *śatkarma* has entered.

Ṣaṭkarma is only one part, it is given to people, because some people are really in need of some happiness in this world. So they have to practise something. So provision is made in the tantras. *Ṣaṭkarma* is only a part that was necessary sometime for the people suffering in this world. Tantra is a means to remove the suffering of the people. So the temporary happiness is *ṣaṭkarma*. But it is not the main point at all. The main intention of the *śāstra* is to perform the *ṣaṭkarma* to attain the supreme goal as early as possible. This depends upon the *guru* and the *śiṣya*. The *śiṣya* should find a proper *guru*. *Guru* must accept the *śiṣya* and there should be an initiation. Without initiation this does not happen. Normally the way of *dikṣā* is explained in *maṇḍala*, *mantra* etc. But it is not necessary. The *guru* sees whether the *śiṣya* is fit and gives a *dikṣā*. He sees the *śiṣya* and the latter obtains *mokṣa* immediately. *Dikṣā* is something true and can lead a disciple to the supreme bliss.

Now about the *varṇa* and Vedas. In early age, there was no *varṇa* system at all. The *varṇa* system entered the Vedic culture later at the time of Manu. And it is not a *jāti*, it is *varṇa*. If a person was treated as a scholar, he was a Brahmin. A son of a Brahmin becomes a Brahmin. Like this, a *paramparā* came into existence. The *varṇa* became a *jāti*. But in tantra system nobody prescribes any *varṇa* or *jāti*. In south India today there are no four castes at all. There are only two castes, *Brāhmaṇas* and *Śūdras*. Temple is the centre of tantric worship. Archaeologists think that temples existed from the 7th cent. A.D. You are aware that a *liṅga* existing 3000 years ago was excavated in Sri Lanka. So with the archaeology or inscriptions you cannot decide the things here. What is the history of India after all? *Purāṇas* are the history of India. You get all these things in *Purāṇas*. What are *Purāṇas*? They are just stories of different times in India. Collect them together. So historical investigations will help. Tantras existed in India since long. The *ācāryas* were different and the methods were different, but there was only one supreme principle. It may be called by any name. But it should not be necessary that there should be only one way. You can't stop a man from thinking. So, each man finds his own way. As all rivers go to the ocean, we have so many cults in India, so many different paths, and each of them is true. Each path is true, each tantra is true, and whatever is prescribed in that tantra is true. After Śaṅkara's time, tantra also has become Vedic. So, now in the 20th century, a *Tāntrika* is a *Vaidika*. Because if he is a *Vaidika*, he thinks that tantra is the essence of Veda, though he can't find anything about tantra in Vedas. And about the existence of temples even before, you can see in Kauṭilya's *Arthaśāstra*. The text tells how to build a city and how many temples will there be in each plot, Śiva in this part, Viṣṇu in this part, Buddha in this part. In Veda itself, there are historical evidences of the existence of tantra. And even the *Gṛhya Sūtras*—though they did not describe temple-worship—do accept it. In *vivāha* ceremony, the newly married couple goes home. When they go near a temple, they should go by *pradakṣiṇā*. The Vedic people knew there were systems, they knew about the festivals etc., but they did not perform it. They had no interest. This is another path. Tantras and Vedas are definitely two cultures and today in the 20th century they have become one. But even a *Vaidika* can't become a *Tāntrika* without an initiation. A *Vaidika* undergoes *upanayana*; but when he becomes a *Tāntrika*, he must have a *Tāntrika* *Dikṣā*. Even in *Pāñcarātra*,

Vaidikas perform worship in a Vaiṣṇava temple. But they have a special initiation to do the worship in the temples. So the tantric religion is something separate from the Vedic religion. In the religious sects of ancient times we see Śiva worship, Śakti worship, serpent worship etc. And you know historically, the Buddha came later and also the Jainas. They were also Hindus, I mean *bhāratīyas*. They have their own different cults.

But these cults of tree worship, serpent worship and Śakti worship have been grouped into the Śaiva religion, and today in Śaiva temples, you have a Śakti, the Goddess of the temple, you have trees, *sthala vṛkṣa*, you have a serpent which is an ornament. In a Viṣṇu temple, it is a part of *śayana* for Viṣṇu and for Śiva it is an ornament. So the tree worship and the serpent worship became the means of the worship of Śiva and Śakti. Śakti does every thing. Śiva is *niṣkriya*, is supreme, beyond conception. It is Śakti which does the creation etc. Somebody has said about *mukti*. The conception of *mukti* in Buddhism is different. But what is *mukti* really ? *Mukti* means the release of all the sufferings. So, by whatever name you call it, it is *mukti*. An initiation is given in the Śaiva system also. The initiation is given for two things, *bhoga* and *mokṣa*. There *bhoga* does not mean having happiness in this world. There are 225 worlds. Each person goes to some world and enjoys for sometime and, after enjoying, he can go to *mokṣa*. *Mokṣa* is also of different kinds. One would say that one can be united with the supreme, another person would say that one would stay with the supreme side by side; another person would say that one stays near the god like a servant and worships him. Another person would say that there does not exist anything. Any way, the main essence is that there are no more sufferings. This is most important. This is what we have to investigate. This is historical approach. There are hundreds of mss. of each text. We have to find them out, make a critical edition, find the truth, the real path, and the correct procedures, so that the *śiṣya* will follow the correct procedure. He will follow whatever is told in the text and by *guru*, and obtain the bliss which is the real aim of each and every person born in this world.

प्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

अध्यक्ष महोदय के इस सारगर्भित भाषण से हम लोग बहुत लाभान्वित हुए हैं । यहां उपस्थित विद्वानों ने अपने जो विचार प्रकट किये, उनसे भी हमें लाभ मिला है । मैं यहां उपस्थित सभी विद्वानों के और विशेष कर अध्यक्ष महोदय के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ । इस सत्र के लिये निर्धारित विषय अब समाप्त हो रहा है । तीन बजे हमलोग फिर यहां उपस्थित होंगे और तन्त्र के सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे ।

सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

हमने प्रातःकाल तन्त्रशास्त्र के प्रायोगिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष पर विचार किया है । अब हम उसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करने जा रहे हैं । कार्यशाला का मुख्य प्रयोजन सामान्यतया हमारी अपनी समस्याओं का समाधान करना है, किन्तु इसके साथ इसका जो सामाजिक पक्ष जुड़ा हुआ है, जो सांस्कृतिक पक्ष जुड़ा हुआ है और जो दार्शनिक पक्ष है, उसका आज के समाज के लिये भी कोई उपयोग हो सकता है या नहीं ? इस पर भी साथ में यदि विचार करें, तो इस कार्यशाला की अधिक सार्थकता रहेगी । प्रारम्भ में भूमिका के रूप में आमन्त्रण के साथ भेजे गये पत्रक में इस विषय में कुछ लिखा गया है । इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये यहाँ कुछ और निवेदन करना चाहूँगा ।

श्रद्धेय कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन में शून्यतावादी बौद्ध-दर्शन और मायावादी शांकर-दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुँचाया गया था । महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की स्वोपज्ञ परिमल टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिष्ठित किया है । विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं । बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है । इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों के विचारों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैवों और वैष्णव आगमों से प्रभावित था । इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति श्रद्धेय कविराज जी थे । उन्होंने अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है । वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था । आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है ।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराज जी को प्रिय था । कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया । जहाँ तक योग का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और

विरूपाक्षप्रचाशिका ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे । उन्होंने इन ग्रन्थों को शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक उनकी अथाह गंभीरता को उद्भाषित करते हुए पढ़ाया, था । उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी । उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा, मैं इस प्रसंग में अरविन्द के दर्शन की भी चर्चा करना चाहता हूँ, जिन्होंने मनुष्य के मन के विकास की कल्पना की है कि यह मनुष्यता से ऊपर उठकर देवभाव तक पहुँचेगा । इस मार्ग की यात्रा में समझता हूँ तान्त्रिक दर्शन और तान्त्रिक संस्कृति की सहायता से ही पूरी हो सकती है ।

इन सब विषयों पर शायद हम इस स्वल्प समय में विचार न कर सकें, जो कि विषयोपस्थापन में बतलाये गये हैं, अतः चित्त की प्रभास्वरता पर ही अभी हम विचार करें तो उत्तम होगा । इस विषय की चर्चा प्रायः सभी तन्त्रों में मिलती है । आदरणीय भट्ट जी से मुझे ज्ञात हुआ है कि दक्षिण भारत में 'शिवज्ञानबोधम्' के आधार पर विकसित हुआ शैव दर्शन अद्वैतवादी था । वीरशैव मत का देवीकालोत्तर नामक ग्रन्थ भी इस विषय में सजग है । दार्शनिकों का प्रायः जनता से संपर्क नहीं रहता, इनका उपयोग प्रधानतः शास्त्रार्थ के लिये किया जाता है, किन्तु धर्माचार्यों को इसकी चिन्ता थी, अतः धर्म से सम्बद्ध दर्शन का निरन्तर विकास होता रहा, हमको दर्शन के इसी स्वरूप पर विचार करना चाहिये ।

प्रसंगवश एक बात मैं हिन्दी के विद्वानों के लिये कहना चाहता हूँ । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि भारतीयता से संबद्ध विद्वानों की वहां की परम्परा समाप्त हो चुकी है । आगे के अधिकांश हिन्दी विद्वान् कुछ छलावे में हैं, ऐसा मुझे लगता है । उनमें से अधिकांश ने भारतीयता से नाता तोड़ लिया है और वे सब पाश्चात्य प्रभाव में डूब चुके हैं । वह शोचनीय स्थिति है ।

मैं मालिनीविजय के एक प्रसंग को यहां उपस्थित करने के बाद विद्वानों से निवेदन करूँगा कि वे इसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करें । मालिनीविजय प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तीन ग्रन्थों में प्रमुख है । यहां ये श्लोक हैं—

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न वर्णादिविचारणम् ।

न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ॥

न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।

सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥

तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।

क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥

परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत् ।

नास्मिन् विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिद्ध्यते ॥

विहित सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ।

किन्त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥

तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्य सुप्रयत्नेन योगिना ।

तच्च यस्य यथैव स्यात् स तथैव समाचरेत् ॥

तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ।

न संस्पृशेत् दौषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

विषापहारिमन्त्रादिसन्नद्धो भक्षयन्नपि ।

विषं न मुह्यते तेन तद्वद् योगी महामतिः ॥

सहजयोग का मूल मन्त्र यहां छिपा है । आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण में भी ठीक उसी प्रकार के श्लोक मिलते हैं, इसी तरह के विचार वीरशैव मत के ग्रन्थ देवीकालोत्तर में भी मिलते हैं और विज्ञानभैरव के अन्त में यही सब बताया गया है । इस पृष्ठभूमि में अब मैं विद्वानों से अपने अपने विचार प्रस्तुत करने का निवेदन करता हूँ । प्रो० युगेश्वर जी से मैं सर्वप्रथम प्रार्थना करता हूँ कि वे इसके सांस्कृतिक पक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करें ।

प्रो० युगेश्वर

मेरा यह दुर्भाग्य है कि मैं इस कार्यशाला में छठे दिन आया हूँ । इसलिये मैं इस कार्यशाला में प्रस्तुत सभी विचारों को सुन न सका । बिना सुने कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी । फिर भी अज्ञानियों को बोलने की आदत होती है । इसी दृष्टि से मैं कुछ कहना चाहूँगा । पहली बात जो मुझे सबेरे से अब तक ज्ञात हुई, वह यह है कि आपका सारा चिन्तन करीब-करीब एक हजार वर्ष पुराना है । एक हजार वर्षों में भारतीय भाषाओं में जो विचार हुए हैं, उनको एक एक कर हम देखें तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषा या द्रविड भाषा को करीब करीब छोड़ दिया गया है, ऐसा मुझे लगा । मैं विशेष कर हिन्दी का विद्यार्थी हूँ । इसलिये मैं इस बात को कहना चाहूँगा कि सबेरे कहीं भी किसी हिन्दी लेखक की चर्चा नहीं हुई । पिछले हजार वर्षों में विकसित हिन्दी, कर्नाटकी, गुजराती, बंगाली, असमिया आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं या द्रविड भाषाओं में विपुल साहित्य है, जिनमें इन बातों पर विचार किया गया है । मैं दो-एक उदाहरण देना चाहूँगा । सबेरे मुक्ति के बारे में बात उठी थी । हम लोगो का हिन्दी के माध्यम से संस्कार बना है । वह संस्कार यह बना है कि तुलसीदास जी बहुत स्पष्ट ढंग से कहते हैं— "सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं । तिनगति निजराम भगकहैं देही ॥"

इतना ही नहीं, तुलसीदास जी ने एक जगह गजब ही किया है । राम-रावण युद्ध समाप्त होता है । दोनों तरफ की सेनाएँ मरी पड़ी हैं । इन्द्र आते हैं । राम इन्द्र से कहते हैं— तुम इनको जिला दो । इन्द्र ने अमृत छिड़का । अमृत छिड़कने के बाद एक विचित्र घटना हो गयी । अमृत का प्रभाव एक ओर हुआ, दूसरी ओर नहीं हुआ— "सुधा बरसि गई दो दल माही ।

जिये भालु कपि निशिचर नाही ॥" भालु-कपि तो जी गये । भाई, सप्रज्ञ में तो नहीं आता । बहरहाल कपि क्यों जी गये और क्यों नहीं निशिचर जी गये ? तो तुलसीदास जी उसके बाद यह कहते हैं कि उन लोगों को मोक्ष मिल गया, याने राक्षसों को तो मोक्ष मिल गया और जो राम की सेना थी भालु-कपि की, उसको मोक्ष नहीं मिला, वह रह गये । मुझे लगा कि यहां तुलसीदास जी कहते हैं कि मोक्ष किसको मिलता है ? मोक्ष का अधिकारी कौन है ? और दूसरे लोग जो राम के साथ हैं, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं । तब मुझे तुलसीदास जी की दूसरी बात याद आती है । वे कहते हैं—"धरम न अरथ न काम रुचि, गति न चहौ निर्वाण ॥" निर्वाण बौद्ध-परम्परा में ज्यादा है दूसरी वैदिक परम्परा में भी है । "गति न चहौ निर्वाण । जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ॥" याने हमें ओर कुछ नहीं चाहिये, हमें मोक्ष बिलकुल नहीं चाहिये । फिर हमने यह देखा कि यह जो सन्त-परम्परा है, उसमें भी कबीरदास जी बहुत स्पष्ट कहते हैं—"राम मोहि तारि कहां ले जइयो" । हे राम मुझे मुक्त करके कहां ले जाओगे, याने मेरे लिये मुक्ति कोई जरूरी नहीं है । हमने देखा कि भागवत में भी कहा जाता है कि मुक्ति तो पिशाचिनी है ।

पिशाच शब्द की सबेरे चर्चा आई । उसे भूतभाषा बताया गया । पेशाची प्राकृत हमारे यहां प्रसिद्ध है । उसका दूसरा नाम भूत-पेशाची प्राकृत भी है । कही उस अर्थ में तो उन्होंने नहीं कहा था । पर चूँकि फारसी में कहा, फारसी से अंग्रेजी में आया, अंग्रेजी से आधुनिक पण्डितों के यहां आया । इतने जाने-आने में कितना परिवर्तन हो गया । मैं केवल यह कह रहा था कि इस तरह के विचार मुक्ति के बारे में हुए हैं ।

दूसरी बात मैं यह कहना चाहूंगा, जैसा कि द्विवेदी जी ने इसके सामाजिक पक्ष की बात उठाई । गोरखनाथ जी की हिन्दी में प्रायः उपेक्षा हुई है, हम हिन्दी वाले यह समझते हैं कि सामाजिक एकता या धर्मों की एकता कबीरदास जी ने शुरू की । मैं इससे भिन्न राय का हूँ । मैं यह मानता हूँ कि कबीरदास जी ने कोई एकता शुरू ही नहीं की । कबीरदास जी एक ऐसे भक्त हैं, जो किसी को छोड़ते नहीं, किसी एक जगह टिकने को वे तैयार नहीं हैं । जहां सगुण की बात आयी तो वहां से हट जाते हैं खट से । गोरखनाथ जी का एक वाक्य याद करता हूँ । गोरखनाथ जी बहुत अच्छी बात कहते हैं । "उत्पति हिन्दू, जोगी जरना, अकल परी मुसलमानी" । मैं उत्पति से हिन्दू हूँ, साधना से योगी हूँ और मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है विद्या का, वह मुसलमानी का पड़ा है । इस प्रकार से उन्होंने एकता करने की कोशिश की । अब मैं इस एकता के सूत्र को ढूँढ़ने की जरूरत समझता हूँ कि आपकी कार्यशाला इसमें योग देगी ।

मैं एक बात और यह कहना चाहता हूँ कि यह जो तन्त्रशास्त्र है, जैसा मैंने समझा, यह मूलतः कर्मकाण्ड है । अब मैं बिलकुल व्यावहारिक स्तर पर बात करना चाहता हूँ । इसका दार्शनिक पक्ष अलग है, लेकिन अभी मैंने जो प्रदर्शनी देखी, यह कर्मकाण्ड और शायद भयानक कर्मकाण्ड है । इतना बड़ा

कर्मकाण्ड है कि इससे उलझ कर, मुझे क्षमा किया जाय, आदमी जैसे उसमें मर जायगा तो नहीं कहूंगा, डूब जायगा, फिर निकलना बड़ा मुश्किल है । इस देश का सारा जो झगड़ा है, वह झगड़ा कर्मकाण्ड का है । दार्शनिक दृष्टि से, वैचारिक दृष्टि से और साधना के उच्च स्तर पर मैं समझता हूँ कि कोई मतभेद इस दुनिया में कहीं नहीं है, उनको राम देखें, चाहे रहीम देखें, चाहे अल्लाह कहें, चाहे कुछ भी कहिये, लेकिन दार्शनिक उच्चता की दृष्टि से, साधना की दृष्टि से जहाँ पहुँचना है, जिस बिन्दु पर, उस बिन्दु पर कोई मतभेद नहीं है । सारे जो मतभेद हैं, वे ये हैं कि जब एक आदमी कान में उंगली डाल के चिल्ला रहा है तो दूसरा चाहता है कि वह न सुने और दूसरा जब घण्टा बजाने लगता है, तो घण्टा बजाना उसकी, मन्दिर की मजबूरियाँ हैं । शंख बजाना और कान में उँगली डाल करके चिल्लाना उसकी मजबूरी है । संपूर्ण मध्यकालीन साहित्य में हिन्दी को देखें और विशेष करके कबीरदास जी को, वे इन दोनों चीजों को नापसंद करते हैं—“कान में मुल्ला बाग दे क्या बहिरा भया खुदाई ”। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि जो तन्त्रसाहित्य है, क्या वह मूलतः एकता स्थापित कर पावेगा, क्योंकि यह कर्मकाण्ड है और इसको छेड़ना बड़ा कठिन काम है । इसलिये आप तन्त्रसाहित्य का जो दार्शनिक पक्ष है, उस पर विचार करें ।

भाई, पाँच तन्त्रों को तो आपने मिला दिया, लेकिन ये पाँचो तन्त्र करीब करीब एक ही सोर्स के हैं, इन तन्त्रों के माता-पिता एक हैं । भारतीय मूल से निकलने वाले सभी धर्म एक बात में विश्वास करते हैं कि मनुष्य पहले भी था और आगे भी रहेगा । मतलब सभी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, सभी के सभी चाहे वह बौद्ध हो, चाहे वह जैन हो, चाहे वह वैदिक हों, चाहे शैव हों, शाक्त हों, जो भी हो, सब एक बात में विश्वास करते हैं और देवता भी थोड़ा बहुत मिला कर, रंग बदल बदल कर, थोड़ा कहीं नाक बदल दिया, कहीं कान बदल दिया, कहीं उग्र बदल दिया, करीब करीब सब एक से है, लेकिन जो धर्म बाहर से आये हैं, उनकी दो प्रकार की विशेषताएँ हैं— एक धर्म है जो हलकी दवा देकर, होमियोपैथिक दवा देकर धर्मान्तरण करता है और दूसरा तलवार के बल पर धर्म-परिवर्तन करता है । यहाँ कठिनाई यह होती है और सब जगह मैं यही देखता हूँ कि कभी ये सब लोग सामने नहीं रहते । जितने विचार होते हैं, चाहे वह राजनीतिक विचार हो, चाहे सांस्कृतिक विचार हो, चाहे धार्मिक विचार, सबकी यही स्थिति है । मैंने द्विवेदी जी से कहा था कि जब तक वे उपस्थित नहीं होते, वे दृढ़तापूर्वक अपना पक्ष नहीं कहते और आपके पक्ष को नहीं सुनते, तब तक हमारा आपका (उनका और आपका) यह समन्वय होना बड़ा कठिन है । मूल समस्याएँ इस समय भारत देश की दो हैं— एक तो बाहर से आये धर्मों के आक्रामक रूप को कैसे झेला जाय, क्योंकि बड़ा आक्रामक रूप है दोनों का । जैसा कि मैंने आपसे कहा एक होमियोपैथिक गोली, मीठी गोली खिलाता है बड़े अच्छे ढंग से । चार राज्य तो मोटे तौर पर बन गये इस देश में पश्चिमी धर्मों के, जो छोटे-छोटे राज्य पाँच लाख, सात लाख, आठ लाख आबादी वाले हैं । दूसरा जो बहुत आक्रामक धर्म है,

उसके बड़े दो राज्य बन गये । वे खतरनाक राज्य भी हैं और आने वाले दिनों में उसकी संभावनाएं और बढ़ेगी और भी राज्य बनेंगे । वैदिक धर्म से या भारतीय धर्म से विकसित धर्म भी करीब करीब आक्रामक होते जा रहे हैं, तो इन आक्रामकताओं से किस तरह से आप इन तन्त्रों के माध्यम से निपट सकेंगे ? यह हमारे सामने बहुत बड़ी समस्या है ।

अभी द्विवेदी जी ने एक बात हिन्दी के बारे में कही थी, उस पर मैं एक निवेदन करना चाहूंगा कि दो-तीन नाम लिये उन्होंने, जिनके बाद हिन्दी में भारतीयता की परम्परा प्रायः खत्म हो गयी, यह बात बिल्कुल नित्यानवे प्रतिशत सच है । सबसे बड़ी कठिनाई क्या हो रही है कि भारतीय विश्वविद्यालयों का पढ़ा-लिखा आदमी जो पश्चिम है, उसी को भारतीय मान रहा है और पश्चिम किस ढंग से उनके मन में भारतीय बनकर घुसा हुआ है, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते । वह विचारा समझता ही नहीं कि वह क्या कह रहा है ? वह कह रहा है पश्चिम की, वह सब कुछ पश्चिम की बात करता है ।

अभी मैं अयोध्या गया था । वहां एक विषय रखा गया था— रामकथा और भारतीय संस्कृति । एक भाजपा के व्यक्ति उसके संयोजक थे । मैंने पूछा कि महाराज जी जब मैं बनारस से चलने लगा तो तुलसीदास जी साक्षात् खड़े हो गये, कहने लगे कहा चले बच्चा । हमने कहा— अयोध्या । कहने लगे कि किस बात पर विचार होगा ? मैंने कहा भारतीय संस्कृति पर । उन्होंने कहा पगला— कहीं हमने संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है क्या ? तुमको भारतीय साहित्य में कहीं संस्कृति शब्द मिला है क्या ? अब आप देखिये, आप मानियेगा इस बात को कि संस्कृति शब्द भारतीय साहित्य में नहीं है, यह एकदम पश्चिम का शब्द है, जो कल्चर का अनुवाद होकर के आया है । एक उदाहरण मैंने आपको दिया । हम लोग तो धर्म पर विचार करते थे, हम लोग तो आचार पर विचार करते थे । आचार और विचार हमारे यहां दो ही शब्द थे । इसके साथ धर्म था । अब हमने धर्म को छोड़ा, भक्ति छोड़ी, योग को छोड़ा, उपासना को छोड़ा, सब छोड़-छाड़ कर केवल संस्कृति पर आ टिके हैं । उसी पर हम चल रहे हैं और इतना मोटा मोटा वेतन ले रहे हैं । भारतीय विश्वविद्यालय का अध्यापक विचारा अगर इसको छोड़ दे, तो खायेगा क्या ? उसकी समस्या यह भी है और उसमें समझदारी का अभाव भी हो गया है ।

द्विवेदी जी से मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि दो एक नाम और हिन्दी में आप लेंगे । उनमें पश्चिम कितनी बुरी तरह से घुस गया था । एक नाम मैं आपको बताना चाहता हूँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का । वे हिन्दी के अब तक के सबसे बड़े आलोचक माने जाते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भारतीय परम्परा का आलोचक माना जाता है । मैं बहुत नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि पश्चिम को भारतीय शब्दावली में जितने अच्छे ढंग से आचार्य जी ने व्यक्त किया, उतना किसी ने नहीं किया । मैं कभी कभी मजाक नहीं, गंभीरतापूर्वक इस बात को कहता हूँ और कहते समय मैं खुद डरता रहता हूँ

कि पता नहीं पश्चिम कहां से हमारे ऊपर हावी हो गया । इस बात का बराबर ध्यान रखिये कि किसी भी सेमीनार या किसी भी कार्यशाला में अदृश्य रूप से होमियोपैथिक गोली की तरह वह घुसा हुआ है और हमको आज तक इस बात की चिन्ता नहीं है कि हम पश्चिम से कितने आक्रान्त हैं । मेरा निवेदन यही है, अब आप जो करना चाहें करें ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि तन्त्रशास्त्र की शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि शाखाओं के संस्कृत ग्रन्थों में जो चिन्तन था, वही सारी भारतीय भाषाओं में विविध रूपों में आया । अब यदि हिन्दी के विद्वानों का संस्कृत से सम्पर्क होता, तो वे यह बता सकते थे कि इसमें कितना तो दसवीं शताब्दी तक का था और कितना बाद में विकसित हुआ ? दोनों को जोड़ने वाली कड़ी के अभाव में हम कह देते हैं कि कबीरदास जी ने जो कुछ कहा, वह उनकी अपनी प्रतिभा है, किन्तु अभी मैंने आपको कुछ श्लोक सुनाये हैं । इसी प्रकार के वचन तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में आपको मिल जायेंगे । विज्ञानभैरव में कहा गया है कि साकार उपासना मातृमोदक है । कड़वी दवा मैं खिलाती है, तो बच्चे को लड्डू देती है, जिससे कि वह दवा खा ले । इसी तरह से निराकार तक पहुँचने के लिये साकार उपासना है । होना यह चाहिये था कि प्रत्येक क्षेत्र में उनकी कड़ी देखी जाय । सिद्धों के ऊपर हिन्दुओं का प्रभाव था या बौद्धों का, यह बड़ा रोचक विषय है हिन्दी वालों का । पर सिद्धों के लिये हम आजकल प्रचलित धर्मीनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, यद्यपि मैं इस शब्द के पक्ष में नहीं हूँ । आज के अर्थ में धर्मीनिरपेक्ष होना तो भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है । चार पुरुषार्थों में धर्म और मोक्ष प्रधान हैं । आज इनको हमने छोड़ दिया है तथा अनियन्त्रित अर्थ और काम के लिये अन्धी दौड़ लगा दी है ।

अस्तु आपने अभी तुलसीदास जी का मुक्ति विषयक विचार बतलाया । उस विचार के मूल में भगवान् बुद्ध हैं, जिन्होंने प्राप्त हुई बोधि (निर्वाण) को नहीं चाहा । इस विषय का एक श्लोक भी है । वह कहां का है, नहीं मालूम, पर वह बौद्ध दृष्टि से प्रभावित है—

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

भक्तिशास्त्र की विचारधारा भी कुछ-कुछ इसी पद्धति पर चली है । वहां भक्त भगवान् से कभी जुदा नहीं होना चाहता, वह अपने उपास्य की उपासना में ही सदा तल्लीन रहना चाहता है । इसीलिये वह मुक्ति को भी इस कार्य में अन्तराय (विघ्न) मानता है ।

आपने कहा संस्कृति शब्द पाश्चात्य देन है, इस विषय पर गीता के इस वचन को हम स्मरण कर सकते हैं— "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" । ज्ञान कहीं का भी रहे, किन्तु उस ज्ञान का सचेत अध्ययन होना चाहिये, जैसा

कि आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था । यह संस्कृति शब्द पूरे विश्व को जोड़ने वाला है । इसमें यदि हम भारतीयता के उपादानों का समावेश करें, तो वह बहुत अच्छा होगा । भगवान् बुद्ध ने ही यह कहा था कि मैं कहता हूँ, इसलिये तुम विश्वास मत करो, उसकी परीक्षा करो और तब ग्रहण करो । महाकवि कालिदास भी कहते हैं—“सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते” । जब आप तन्त्रशास्त्र का सचेत अध्ययन करेंगे, तो उसमें आप देखेंगे कि वहाँ केवल कर्मकाण्ड ही नहीं है, ज्ञान और योग भी वहाँ है । यहाँ तन्त्रशास्त्र के विषय की चर्चा हुई है, उसके विषय में बहुत संक्षेप में आपको बता देना उचित होगा कि उसमें चार भाग हैं, जो पाद कहे जाते हैं । वे बौद्ध तन्त्रों में भी हैं और अन्य तन्त्रों में भी हैं । इसमें क्रिया और चर्चा के साथ योग और ज्ञान भी जुड़ा हुआ है । वह ज्ञान उतना ही है, जितना साधक के लिये पर्याप्त है । शायद इस ज्ञान से वह शास्त्रार्थ करने में प्रवीण नहीं हो पावेगा, किन्तु अपने जीवन का संचालन करने में, अपने मन को पवित्र करने में उसका उपयोग कर सकेगा ।

प्र० युगेश्वर

मैं केवल एक बात कहूँगा । पहले जैसे आपने कहा कि हिन्दी वालों को संस्कृत परम्परा का ज्ञान नहीं है, वह बिल्कुल सही है । लेकिन इसी के साथ एक चीज और जोड़ लें । जैसे हमें अपने माता-पिता का ज्ञान नहीं है, वैसे आपको अपने पुत्रों का ज्ञान नहीं है । यह भी होना चाहिये था । यही मैं कहना चाहता हूँ । मेरा एक निवेदन है । देखिये इसमें बाधा क्या होती है ? आप अगर भारत की एक हजार वर्ष की परम्परा को देखेंगे तो आप बड़ी विचित्र बात देखेंगे । साधक जितने हुए हैं, वे तो विभिन्न जातियों के हुए हैं । विशेष कर बड़ी लम्बी परम्परा शूद्र साधकों की है, सभी राज्यों में शूद्र साधकों की बड़ी-लम्बी परम्परा है । यह आलवारों में भी, नायनारों में भी, वीरशैवों में भी है, यह आग्रह आप करेंगे ही, क्योंकि यह आग्रह भी बड़ा भारी संकट है । एक हजार वर्षों में आप देखेंगे कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से असंख्य शूद्र साधक और कवियों का हमें साक्षात्कार होता है । लेकिन एक विचित्र बात मुझे दिखाई देती है कि आचार्य जितने हैं, उनमें एक आचार्य भी मेरी जानकारी में शूद्र नहीं है । रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, यामुनाचार्य, नाथमुनि, रामानन्द, राघवानन्द— जो ये तमाम आचार्य हैं, इनमें शूद्र एक भी नहीं है । यह बात समझ में नहीं आती । ये सभी शूद्र जो हैं, इन्हीं को अपना गुरु मानते हैं । इसका क्या कारण है ?

प्र० व्रजवल्लभ द्विवेदी

स्पष्ट है कि ये दो धाराएँ हैं— वैदिक और तान्त्रिक । यह भारत का सौभाग्य समझिये या दुर्भाग्य, यहाँ ये दोनों धाराएँ शुरू से लेकर आज तक चल रही हैं और इनमें कोई विरोध नहीं है । वेदों को भण्ड-धूर्त-निशाचरों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने गये हैं । दूसरी धारा के दर्शन आप रैक्व जानश्रुति, महिदास ऐतरेय, सत्यकाम जाबाल, याज्ञवल्क्य

की पत्नी मैत्रेयी आदि के रूप में उपनिषदों में भी कर सकते हैं । वहां से लेकर यहां तक, सन्तों-आचार्यों तक एक लम्बी परम्परा है, जो कि सबको, पूरे वाङ्मय को, पूरी संस्कृति को अपना मानती है । दूसरी एक धारा है, जिसको आप आचार्यों की धारा कह सकते हैं । वह केवल अपने शास्त्र को, अथवा वेद को प्रमाण मानती है और आज भी ये दोनों धाराएं जीवित हैं । आप मुझे क्षमा कीजियेगा, जैसे कि वेदान्तसूत्र के तर्कपाद में बाकी सब मतों को अवैदिक सिद्ध कर दिया गया, वैसे ही सत्यार्थप्रकाश में भी किया गया है । मुझे बताया गया है कि जब सिक्खों ने अलगवावादी आन्दोलन शुरू किया, तो सत्यार्थप्रकाश के उस अंश की लाखों प्रतियां पूरे पंजाब में वितरित की गई थीं । तो ये दोनों स्थितियाँ यहां निरन्तर शुरू से लेकर अब तक चली आ रही हैं । विगत एक हजार वर्ष में जब आक्रमण-प्रत्याक्रमण हुए, तो आचार्यों वाली परम्परा प्रभावी हो गई और जो तन्त्रशास्त्र की परम्परा थी, जिसमें शूद्रों को, स्त्रियों को और चाण्डाल को भी दीक्षा का समान अधिकार दिया गया था, वह पिछड़ गई । विरोधी धर्मों का मिथ्या प्रचार भी इसमें सहायक बना है । इनमें से आचार्य-परम्परा को आप रूढ़िवादी कह सकते हैं, पर इस रूढ़िवादी परम्परा का सबसे बड़ा अवदान यह है कि आज भी भारतीय संस्कृति बची हुई है । यदि यह रूढ़िवादी परम्परा न होती, तो पूरा देश इस्लाम का अनुयायी हो गया होता । जिनको आप रूढ़िवादी कहते हैं, उन आचार्यों और उनके शिष्यों ने इस देश की रक्षा की, इस संस्कृति की रक्षा की । तो आप एक को पूरी तरह से हटा दें और दूसरे को पूरी तरह से ग्रहण कर लें, यह ठीक नहीं है । कालिदास की "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते" इस उक्ति की पृष्ठभूमि में आचार्यों का क्या अवदान है ? वैदिक संस्कृति का क्या अवदान है और तान्त्रिक संस्कृति का क्या अवदान है ? इन दोनों की हमें आज बिना पक्षपात के समीक्षा करनी होगी ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

इसमें तो कोई दोष नहीं है कि संस्कृति शब्द को हम ग्रहण करें, क्योंकि संस्कृत में अनेक शब्द म्लेच्छ भाषाओं से भी ग्रहण किये गये हैं । "प्रोटोमुण्डा वर्ड्स इन संस्कृत" यह कूपर की एक डिक्शनरी है, चार सौ पन्नों की, उसको छोड़ दें और अन्य भाषावैज्ञानिकों की बात भी छोड़ दें, लेकिन स्वयं कुमारिलभट्ट इसकी चर्चा करते हैं कि काक, पिक, तामरस जैसे शब्द हैं, ये म्लेच्छ भाषा से आये हैं, तो इनका कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाय ? वे कहते हैं कि अर्थ तो वही ग्रहण करना पड़ेगा, जो म्लेच्छ भाषा में है । तब प्रश्न उठा कि म्लेच्छ भाषा के शब्द देववाणी में कैसे प्रयुक्त होंगे ? तो कहा गया कि इनकी व्युत्पत्ति अपनी प्रकृति से करो, धातु-प्रत्यय लगाकर, म्लेच्छों वाली बात छोड़ दो, ऐसा बना दो कि रूप ही बदल जाय । मैं सोचता हूँ कि हमारे युगेश्वर जी को इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि अन्य शब्दों का प्रयोग हो, जहां तक मैं इनको समझता हूँ । लेकिन वे कहते हैं कि संस्कृति शब्द भी हमको बाध्य होकर पकड़ना पड़ा । यद्यपि हमारे यहां उसके लिये आचार-विचार और धर्म शब्द थे ।

द्विवेदी जी ने मालिनीविजय को उद्धृत किया । ऐसा तो प्रथम शताब्दी के पूर्व भी आता है । लेकिन वह दार्शनिक पक्ष को द्योतित करने के लिये आ रहा है, जिनको कि महायान के नौ अंगों में गिना जाता है । चन्द्रकीर्ति अपनी प्रसन्नपदा व्याख्या में स्वभावपरीक्षा में कहते हैं—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता

शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता ।

तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा

मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः ॥

ये वहाँ पर—“न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः वचन केचन ॥” माध्यमिककारिका के इस वचन की व्याख्या करते हुए वह कच्चायन सूत्र के संस्कृत रूपान्तर को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि हे कात्यायन, अस्ति यह भी एक स्थिति है, नास्ति यह भी एक स्थिति है और इसके बीच की जो स्थिति है, वह भी है । पण्डित को चाहिये कि वह इन चारों से अलग चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तता में रहे, शून्यवाद के बाद विज्ञानवाद और विज्ञानवाद के बाद बौद्ध तन्त्र की वज्रयान वाली स्थिति आती है । बहुत से आधुनिक विद्वानों का विचार है कि तन्त्र के कारण ही बौद्ध धर्म इस देश में नष्ट हो गया । लेकिन अगर इस साधना से बौद्ध धर्म नष्ट हो गया, तो शाक्त तन्त्र में भी तो वही चीज थी । उसके कारण यह हिन्दू धर्म क्यों नहीं नष्ट हो गया ? हेवज्रतन्त्र के संपादक स्नेलग्रोव ने अपनी भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है और उन्होंने इशारा किया है कि हजारों बौद्ध भिक्षु मुण्डित मस्तक होने के कारण और काषाय वस्त्र पहनने से सरलता से पहचान में आ जाते थे । अफगानिस्तान से ही वे मिल रहे थे, परिचित थे । वहाँ से लेकर बंगाल के जगदल विहार तक सबको नष्ट कर दिया, तो समाज में बताने वाला कौन था ? हिन्दुओं ने जड़ पुरोहित को गांव गांव में रखा था, जो अशुद्ध संस्कृत में सकल्प कराता था और उसने रक्षा कर दी । शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म की रक्षा नहीं की । मैं आप लोगों से बिल्कुल अलग विचार रखता हूँ कि गांव में जो पुरोहित था, जो कम पढ़ा था, जो छोटा कर्मकाण्ड कराता था, उसने हिन्दू धर्म की रक्षा की । कोई सामान्य हिन्दू शंकराचार्य को नहीं जानता । अगर उत्तर का है, तो तुलसीदास को जानेगा । वह दोपहर को स्नान करेगा, एक लोटा जल लेगा, सूर्य की तरफ खड़ा होकर उसे चढ़ा देगा, तो इससे हिन्दू धर्म की रक्षा हुई ।

आपने प्रश्न उठाया कि घोर कर्मकाण्ड है तन्त्र में, तो यह जो आप कर्मकाण्ड देखते हैं, वह वास्तविक नहीं है । जैसा कि द्विवेदी जी ने कहा यह कर्मकाण्ड उसके अन्दर प्रवेश कराने और यथाभूत दर्शन को ज्ञापित करने के लिये साधन है । उसके बाद कर्मकाण्ड को तान्त्रिक या साधक, ऐसे ही छोड़ देता है, जैसे गंगा पार करने के बाद आप नौका को छोड़ देते हैं । अगर आप नाव में से उतरना नहीं चाहते, तो आप उसमें बैठे रहिये । यथाभूत दर्शन को प्राप्त करने के लिये कर्मकाण्ड उपाय है । लेकिन कर्मकाण्ड में कुछ लोगों

को मजा आ जाता है, तो जब तक कर्मकाण्ड को वे लोग छोड़ेंगे नहीं, उसको यथाभूत दर्शन प्राप्त नहीं होगा। जहाँ तक मैं दर्शन की बात समझता हूँ कि राग है, द्वेष है, मोह है, क्लेश है, इनको अतिक्रान्त करके, इनको छोड़ करके मुक्ति की ओर चलता है आदमी, लेकिन जब माध्यमिक दर्शन से, शून्यवाद से यह सब गड़बड़ाया और फिर दर्शन में नई अवधारणा होने लगी कि अर्हत्पद से फिर आदमी गिर सकता है। इस पर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ प्रथम शताब्दी में। यह जो वज्रयान वाली बात है कि महाराग के साथ हम सामंजस्य स्थापित करें, लोक से लोकातीत होकर पुनः लोग में प्रतिष्ठित हों। यह बड़ा कठिन कार्य है। दो तरह के इश्क हैं— इश्क मिजाजी और इश्क हकीकी। मुक्ति के लिये जो इश्क है साधक का, यह बड़ा कठिन इश्क है। सबको इसका अधिकारी नहीं बनाया जा सकता। इसीलिये द्विवेदी जी को हम बार-बार अधिकारी के विषय में सचेत करना चाहते हैं। बौद्धों में तो यह है। अन्य तन्त्रों में मैं नहीं जानता, किन्तु तन्त्र सभी शिष्यों को पढ़ाने के लिये नहीं है, वह चुने हुए शिष्यों को दिया जाता है। अभी भी बौद्ध परम्परा में तन्त्र का कालेज है अरुणाचल में, वहाँ सब लोग नहीं पढ़ पाते। मैं यह कहना चाहता था कि तन्त्र के बारे में जो सामान्य धारणा होती है कि यह जादू-टोना है। समाज की जो यह स्थिति है, उसको हम लोगों को दूर करना चाहिये और तन्त्र की वास्तविक प्रतिष्ठा पर, उसके दर्शन पर अब हमें विशेष बल देना चाहिये, क्योंकि साधना तो गुह्य है, हम लोग क्या बतावेंगे ? बस मुझे इतना ही कहना है।

प्र० सुनीतिकुमार पाठक

वैसे तो मैं बहुत आभारी हूँ कि संस्कृति शब्द पर थोड़ी सी आलोचना हुई। अंग्रेजी में कल्चर शब्द है, एन्थ्रोपोलोजिकल शब्द है। काल के साथ थोड़ा सा जुड़ा हुआ लिग्विस्टिक है भाषा की ओर से, लेकिन इन्होंने इनकी व्याख्या कर दी है कि समग्र जीवन के एक पूर्ण चित्र के लिये कल्चर शब्द है और इसका तरह-तरह के हिसाब रखा गया है। मेटेरियल ट्रेट्स, स्प्रिचुअल ट्रेट्स लैंग्वेज ट्रेट्स आदि-आदि करके। हमारे यहां तो इसके लिये कृष्टि शब्द था, जैसे शिष्य शब्द था वैसे कृष्टि शब्द था। अभी कल्चर के साथ मिला-जुला कर एक दूसरा शब्द चल रहा है— कुलाचार। वह शब्द भी इतना जँचता नहीं और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसके लिये कृष्टि शब्द का प्रयोग करते हैं। कृष्टि शब्द पर उनका एक लेख भी है। लेकिन कृष्टि शब्द से हमें असुविधा होती है। संस्कृति शब्द को तुरन्त हम लोग वैयाकरणों के रूप में सांस्कृतिक बना लेते हैं, ऐसे ही कृष्टि शब्द से क्लैष्टिक बनाने के लिये बड़ी दिक्कत होती है।

अभी तन्त्र के सम्बन्ध में सबेरे हमारे महाभाग सभापति डॉ० भट्ट जी ने बताया है। मैं यही सोचता हूँ कि भारतीय संस्कृति की धारा सचमुच दो नहीं हैं, कई धाराएं चलती रही हैं। मेरे लेख में लोकायत तन्त्र की बात उठाई गई है। हिमालय के प्रत्यन्त प्रदेश में मेरा थोड़ा आना जाना रहा है, मैं उस प्रदेश

से परिचित हूँ । अभी हिन्दुस्तान में कई सम्प्रदाय हैं, जो सूर्य-चन्द्र के सिवाय किसी की उपासना नहीं करते । मैं अभी अरुणाचल के दनीपुल की बात कहता हूँ । वहाँ जो सम्प्रदाय प्रचलित है, उसके पुजारी को नीबू कहा जाता है । उनके लिये हमारी भारत सरकार ने करीबन ढाई लाख रुपया दे कर के एक बड़ी उपासना की जगह बना दी । बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने सारे मन्दिर को छोड़ दिया । बाहर आकर उन्होंने फिर लकड़ी बाँध दी, यह बेम्बु कल्चर है, बंशी की कल्चर है, संस्कृति है या कृष्टि कहिये, जो कुछ है । वे दो बाँसों को बाँध कर उन्हीं में सूर्य-चन्द्रमा की पूजा करते हैं । उनकी यही परम्परा चली आ रही है । हमारे यहाँ शबर परम्परा है, मतङ्ग परम्परा है । न जाने कितनी परम्पराओं को हम लोग खो चुके हैं । उनमें से कुछ छिटपुट हमें बची मिलती है ।

तिब्बती भाषा में ग्रामिलतन्त्र मिलता है । ग्रामिलतन्त्र का तिब्बती भाषा में जो अनुवाद है, उससे हम थोड़ा कुछ संस्कृत ला सकते हैं । लेकिन मैं देखता हूँ कि कई जगह खटकता है । "चीली चीली मिली मिली इली इली किली किली" जैसे धारिणी मन्त्र हैं । अभी प्रोटोमुण्डा वाली बात आयी । ऐसे कुछ शब्द ग्रामिलतन्त्र में मिलते हैं । विशेषकर नाग की आराधना के लिये जो कुरुकुल्ला की साधना के मन्त्र हैं, इसमें जो धारणी मन्त्र हैं, वे सब ग्रामिलतन्त्र की परम्परा के लगते हैं । अभी परम्परा की बात चल रही है, इस पर कृष्टि की दृष्टि से, अभी मैं संस्कृति को छोड़ देता हूँ, हम विचार करें, तो मैं सोचता हूँ कि इसमें भारतीय संस्कृति का, जिसको आजकल अवरजंग कहा जाता है, या सामान्य रूप में शुद्ध शब्द प्रयोग करने की यहाँ रुचि नहीं है । जिसको सामान्य जनकृष्टि कहा जाता है, उसके समग्र रूप को एक जगह मिलाने के लिये क्या हम एक संस्थान बना सकते हैं ? जहाँ इन सबको एक आधार मिले और हमको इनके विभिन्न स्वरूपों को समझने में सहायता मिले ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

संस्कृति के बारे में यहाँ चर्चा हो रही है । एक तो युगेश्वर जी ने संस्कृति के कालिक क्रम को देखने या परखने की चेष्टा की । आपने हम लोगों के सामने कुछ मुद्दे रखने का प्रयत्न किया है । इससे बहुत अच्छा दिग्दर्शन मिला है । दूसरा प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी जी ने दर्शन और तन्त्र के साथ संस्कृति को जोड़ने वाली अवधारणाओं को कुछ विस्तार से समझाया है । बहुत अच्छी बात है । द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति को मानव संस्कृति के साथ जोड़ने का संकेत किया है, पर इससे कुछ कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं । यदि हम आज से शुरू करें, तो आज से लेकर हजार वर्ष पूर्व तक की हमारी संस्कृति है, हिन्दी के या अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से जो सांस्कृतिक अवधारणाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, या संस्कृति की जो परम्परा जीवित है, उसके बारे में मेरा एक दृष्टिकोण बन रहा है । वह यह कि यह संस्कृति अत्यन्त क्षेत्रीय हो गई है । यह कार्य उस सतह पर नहीं हुआ, जो संस्कृत भाषा के माध्यम से, पालि भाषा के माध्यम से हमारे यहाँ पूरे उपमहाद्वीप में

फैला है । उसकी संतति में यह जुड़ नहीं पा रहा है । एक विशेष क्षेत्र में ही वह सब पनपता रहा और विशेष क्षेत्र में ही उसके विकसित रूप बदलते या परिवर्तित होते रहे हैं ।

दूसरा द्विवेदी जी का जो कहना है कि हम एक हजार वर्ष पूर्व के सांस्कृतिक अवदान को देखें । एक हजार क्या है, हम लोग तो दो चार-हजार वर्ष पहले तक ले जाते हैं । इसमें कोई दिक्कत नहीं है । वह कम से कम भगवान् बुद्ध और पाणिनि तक तो ले ही जा सकते हैं । भाषा की दृष्टि से पाणिनि तक और विचारों की दृष्टि से उपनिषद् तक, भगवान् बुद्ध तक ले चलते हैं । भगवान् बुद्ध के समय की, उपनिषद् के समय की जो भाषा है, वह हम लोग आज भी बोल रहे हैं, वही विचार आज भी हम समझा रहे हैं, अपने बेटों को समझा रहे हैं या विद्यार्थी को समझा रहे हैं । गुरु जी मानकर बैठे हैं कि वह परम्परा जीवित है हमारे यहाँ । किसी न किसी रूप में जीवित है । वह उस रूप में तो जीवित नहीं है, वह प्रभावशाली वर्चस्व का समय था, वह तो आज नहीं है । आज बहुत कुछ मर चुका है । वह जा भी चुका है । लेकिन वह अभी भी जीवित लगता है । मैं खुद ही आदिवासी हूँ, बहुत दूर हिमालय के उस पार का, लेकिन वहाँ भी भगवान् बुद्ध के संस्कारों का एक प्रभाव है और उसके साथ-साथ तन्त्र का प्रभाव है, तन्त्र की परम्परा है या तान्त्रिक संस्कृति है ।

संस्कृति शब्द से हम लोगों को कुछ आपत्ति हो या न हो, उसका एक संस्कार है । उसे आप संस्कृति कहिये, या संस्कार कहिये, या कल्चर कहिये, या धर्म कहिये, एक संस्कार है । वह संस्कार आप अभी भी पावेंगे । गिलगिट से लेकर, कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक मुसलमानों के घर में भी किसी कोने में यह संस्कार बैठा हुआ है, आपकी पूजा की सामग्री में बैठा हुआ है । वह ढका हुआ है । उसे खोलने नहीं देंगे, खोलेंगे तो कहेंगे महाराज इसको मत खोलो । यह क्या है ? भाई यह क्या है ? पूछने पर उत्तर मिलता है कि यहाँ पर बौद्धों का कुछ रखा हुआ है या किसी तन्त्र का कुछ रखा हुआ है । तो आप लोग क्यों फेंक नहीं देते उसे, आप लोग तो इससे घृणा करते हैं ? उत्तर मिलता है कि यह हमारे खान-दान की चीज है, हम नहीं फेंक सकते इसको । इसे वह किसी को छूने नहीं देते । वह रखा हुआ है, किनारे में ढक करके रखा हुआ है । इस तरह से कई जगह मूर्तियाँ हैं, कई जगह स्तूप हैं । एक जगह तो तन्त्र का ग्रन्थ भी है । इसको भी वहाँ पर खोलने नहीं देते । हाथ से लिखा हुआ है, तालपत्र पर लिखा हुआ है । हमने दो चार जगहों पर देखा है वैसा । गिलगिट की सीमा पर है वह ।

इस तरह से पूरे उपमहाद्वीप में फैले इस साहित्य का भाषान्तर कालान्तर में मंगोल, चीन, जापान तक चला गया । जापान के किसी आदमी से यदि आप मिलेंगे, तो उसके चेहरे पर अपनत्व झलकेगा । लंदन में जाकर आप किसी मित्र से भी मिलेंगे, तो उसके चेहरे पर वह आत्मीयता नहीं मिलेगी । वह क्या है ? अन्दर अन्दर हमारे संस्कारों का एक अनुशीलित प्रभाव वहाँ चल रहा

है, वह काम कर रहा है, उसके चेहरे पर कुछ चमक रहा है। इसी तरह से किसी संस्कृति का प्रभाव, उसका फैलाव धर्म की वजह से होता है, दर्शन की वजह से होता है। धर्म-दर्शन के तत्त्वचिन्तन से यहां ज्यादा मतलब नहीं है। उसके पीछे मान्यताएं जुड़ी हुई हैं, यह मान्यता ही संस्कृति बन जाती है। धर्म का एक तरह से अवशेष जीवन में रह जाता है, वही संस्कृति होती है। यह चीज आज हमें सारे उपमहाद्वीप में तो साफ साफ दिखाई पड़ेगी, अन्य जगहों में भी दिखाई पड़ेगी। यही भारतीय संस्कृति को जोड़ने वाला तत्त्व है।

इसीलिये मंगोलिया में एक तम्बू में रहने वाला आदमी जब बुद्धगया के चित्र को देखता है, तो वह उसे शिर पर रख कर प्रणाम करेगा। क्या मतलब है उसका, यह सीधे संस्कृति का प्रभाव है। उसके अन्दर संस्कृति बैठी हुई है। संस्कृति के साथ जो मान्यताएं हैं, पवित्रताएं हैं, या उसके प्रति जो आत्मीयता है, एकत्व है, तान्त्रिक मान्यताएं हैं, उसके पीछे जो देव-देवी की मान्यताएं हैं, मोक्ष की मान्यताएं हैं और सिद्धियों की मान्यताएं हैं, मन्त्र जपने से उसके लाभ की जो मान्यताएं हैं, ये सब जुटी हुई हैं।

इसीलिये आपने विश्वसंस्कृति को या भारतीय संस्कृति को एक जोड़ने वाला तन्तु कहा है, तो वह जोड़ने वाला तन्तु एक तरह से सर्वत्र दृष्टिगत होता है। हमारा एक और निवेदन है कि अभी द्विवेदी जी ने मालिनीविजय का और आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण का उल्लेख किया है, गुरु जी ने समाधिाराजसूत्र का उद्धरण दिया है, इन सबका तो जातिविहीन या जातिवाद का निषेध करने वाले विचारों से बहुत ज्यादा सम्बन्ध मेरे ख्याल में नहीं है। वह तो तत्त्वचिन्तन से संबद्ध है। इससे कोई बात न हम समाज को समझा सकते हैं, न समाज उस बात को समझ सकता है, न वह व्यवहार में आ सकता है। यह तो चिन्तन के क्षेत्र में है। वह सबके लिये नहीं है। जैसा अभी आपने कहा, वह तो सहजावस्था की एक प्रतीति है, उससे एक अवधारणा बनती है। हमको घृणा नहीं करनी चाहिये, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। लेकिन वह सब सबके लिये सुलभ या उपयोगी नहीं हो सकेगी।

एक बात और है कि संस्कृति के साथ भाषा की बहुत बड़ी समस्या है। आप लोगों ने पश्चिम के प्रभाव की भी बहुत अच्छी समीक्षा की है। पश्चिम के प्रवाह की समीक्षा करना ठीक है। यूँ उसके पीछे हम लोगों की जो भावना बोल रही है, सीधे रूप में जो हम उसकी समीक्षा कर रहे हैं, उसके पीछे, क्षमा करेंगे, एक विशेष बात है। यहां प्रकारान्तर से हम अपने में हीनता का बोध कर रहे हैं, हम उसी से पीड़ित हैं। वह हमारे सिर पर चढ़कर बोल रही है। पहले हमें उसे उतार कर रखना होगा। पहले उसका प्रतिद्वन्दी या उसके मुकाबले का प्रतिरूप हमें तैयार करना होगा, तब जाकर हम कह सकते हैं कि तुम बैठो पहले। जब हम उसे नहीं छोड़ सकते हैं, उसके सामने खड़े ही नहीं हो सकते हैं, तो हम उसके लिये चिल्लाकर भी क्या करेंगे। हमारे विश्वविद्यालय, हमारी पूरी शिक्षा गलत रास्ते पर चल चुकी है। हमारे दिमाग का निर्माण जिस मशीनरी में हो रहा है, जब तक उसमें

सुधार नहीं होगा, देश का सुधार नहीं होने वाला है । हम भारतीय रहेगे या नहीं रहेगे, अब यह एक चिन्ता का विषय है । यदि इस देश को जीवित रखना है, तो हमारी इस परम्परागत संस्कृति को पुनः उज्जीवित करना ही होगा ।

प्र० लक्ष्मीनारायण तिवारी

यह बड़ा सौभाग्य का विषय है कि आदरणीय खिस्ते जी यहां पर है । मैं एक प्रश्न यहां उठाना चाहता हूँ । बार बार यह चर्चा आ रही है— "श्रुतिर्द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च" । यह बहुत अच्छी चीज है कि इसकी ओर यहां इशारा हुआ है । इस विषय पर एक निबन्ध रखना चाहिये था । आजकल प्रचलित हमारा कर्मकाण्ड तीन बटा चार तान्त्रिक है । याने तन्त्र के कर्मकाण्ड से ही स्मार्त पूजापद्धति भारतीय परम्परा में आयी है, श्रौत परम्परा से इसका सम्बन्ध कम है । विद्वानों का विश्वास है कि तान्त्रिक कर्मकाण्ड से पूजा और तान्त्रिक उपासना से उपासना, ये दोनों वस्तुएं आयीं । तन्त्र उतना अर्वाचीन नहीं है, तन्त्र के ग्रन्थ अर्वाचीन हो सकते हैं, लेकिन तान्त्रिक परम्परा अर्वाचीन नहीं है । डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती को आप पढ़िये, उन्होंने प्रारम्भ में ही साफ किया है कि तन्त्र कितना प्राचीन है । उन्होंने वेद में भी तन्त्र को दर्शाया है । इस पूजा-पद्धति पर आदरणीय खिस्ते जी कुछ कहें, तो अच्छा होगा ।

प्र० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि बहुत सी भ्रान्तियाँ हैं । कल मैंने अपना लेख पढ़ा था । उसमें निगम और आगम की एकवाक्यता बताई गई थी । वेद और तन्त्र एक ही वृक्ष के दो फल हैं । कल मैंने एक श्लोक पढ़ा था । वह किसी शिवागम का है—

यन्मूलं वेदवृक्षस्य सम्पूर्णान्तशाखिनः ।
तस्यैव यत्फलं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम् ॥

ये एक दूसरे से अन्योन्य सापेक्ष हैं और भारतीय जीवन में इनका गहरा प्रभाव है । स्मार्त पूजापद्धति जो कुछ है, इसका पचहत्तर प्रतिशत तन्त्र से सम्बद्ध है । श्रौत कर्म इनसे एकदम भिन्न है । श्रौत कर्म की कुछ सामाजिक व्यवस्था भी है । इस समाज-व्यवस्था के लिये कल मैंने कहा था । वर्णाश्रम-धर्म और स्मार्त-परम्परा यह समाजरक्षा का एक कवच है, क्योंकि नीतिशास्त्र का वचन है—

व्यवस्थितार्थमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

उदाहरण के लिये एक सोना सुरक्षित है और उसका दूसरा भाग विनिमय में उपयुक्त होता है । एक स्वर्ण है वेद पुरुष, दूसरा सुवर्ण है आगम । समय समय पर उनसे काम लिया जाता है । इनमें आपस की कोई टकराहट नहीं है, इसमें प्रशासन की व्यवस्था है । इसलिये वर्णाश्रम-धर्म, श्रौत-धर्म और स्मार्त-धर्म

राष्ट्र का सुरक्षित कोश (सुवर्ण) है । इस सुवर्ण का राष्ट्र में आपत्ति आने पर उपयोग होता है । तन्त्र एक जीवन-पद्धति है । प्रातःस्मरण से लेकर शय्या पर जाने तक इस चर्या का बड़ा महत्त्व है । अन्ततोगत्वा यह एक ही है । "ऋते ज्ञानान् मुक्तिः" एक सामान्य सिद्धान्त है, अन्ततोगत्वा तन्त्र क्रिया से मुक्ति मानता है । अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक में कहते हैं—"विनाऽपि ज्ञानयोगाभ्यां चर्यामात्रेण सिद्ध्यति" । यहां क्रिया के साथ-साथ ज्ञान सम्मिलित हो जाता है, यही इसकी विशेषता है । इस लोक को चलाने के लिये जीवन में तन्त्र की बड़ी आवश्यकता है ।

द्विवेदी जी ने जो विषय मालिनीविजय का उठाया, वह एक विशेष भूमिका का विषय है । जिस भूमिका की आपने चर्चा की, वह ऊर्ध्व भूमिका है । अभिनवगुप्त के अनुसार इस ऊर्ध्व भूमि में सुख-दुःख, भोग-मोक्ष आदि की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती । सब कुछ एकाकार हो जाता है । यही परम उपेय स्थिति है । गुरुजनों से जो कुछ मैंने सुना है या कुछ कल्पना की है, तदनुसार मेरा कहना है कि जब वैदिक संस्कृति का कुछ हास हो रहा था, तो हमारे वैष्णवाचार्यों ने परिभ्रमण शुरू किया और इनको भगवन्नाम से उद्धार का मार्ग बताया, पांचरात्र, वैखानस, सात्वत तन्त्र आदि के माध्यम से । वल्लभाचार्य का उदाहरण लीजिये । वे गुजरात में गये थे । देखा कि पराङ्मुख हो गये लोग भिन्न सम्प्रदायों में चले गये । उनके प्रभाव से फिर उनका आकर्षण हिन्दू धर्म में हुआ । इनको "श्रीकृष्णः शरणं मम" इस भगवन्नाम का उपदेश किया उन्होंने । "श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्ते प्रायश्चित्ते भयं गतः । क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥" यह एक रास्ता है । वह अगर आगे चलना चाहता है, तो धीरे धीरे शुद्ध होकर वह आगे तक जा सकता है । किसी का रास्ता रुका हुआ नहीं है ।

अब मैं एक आधुनिक उदाहरण दे रहा हूँ । सिक्ख सम्प्रदाय में गुरु नानकदेव जी भक्त थे । पहले उन्होंने लोगों को अत्याचार से पराङ्मुख करने के लिये भक्ति का मार्ग दिखाया, गुरु गोविन्दसिंह ने स्थिति पर विचार किया । अनार्य धर्म का आक्रमण हो रहा था, उन्होंने आगम को आगे किया । आपके यहां भारत में तीन तरह के क्षत्रिय माने जाते हैं—सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अग्निवंशी । परमार भोजराज थे, उनके ताम्रपत्र में देखियेगा । वह अपने को परमार क्षत्रिय कहते हैं । वशिष्ठ यज्ञ कर रहे थे, तो विघ्न उपस्थित हो जाता है । इसके परिहार के लिये उन्होंने एक वीर उत्पन्न किया अग्नि से—“परांस्तु मारयतीति परमारः” । अब इसी तरह गुरु गोविन्दसिंह ने यज्ञ के द्वारा क्षत्रियों का निर्माण किया । यज्ञ के बाद पंच प्यारे शिष्यों का प्रोक्षण किया । अमृत से प्रोक्षण करके जिसको प्रसाद दिया, वह शिष्य हो गया, तो वह क्या है । यहां सविदैक्य हो जाता है, वह शक्ति जागरूक हो जाती है । इनका जो दुर्गास्तोत्र है, पंजाबी उच्चारण सरियं, हरियं, कलियं इत्यादि मन्त्र-बीज तो आगमोक्त हो गया और देखिये हिन्दू धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया, इनको गर्भ से केश रहता है । उसके बाद स्पर्शास्पर्श का दोष उत्पन्न नहीं होता धर्मशास्त्र के अनुसार । इसलिये आक्रान्ता इनको भ्रष्ट नहीं कर सकता । मन्त्र है—वाहे

गुरु, अर्थात् गुरुर्जयति । अब हमारे यहां गुरु सबसे बड़ा मन्त्र है । हिन्दू-संस्कार की रक्षा के लिये आगम ने कितना बड़ा काम किया । इस तरह का हमारे जीवन में आगम का बहुत महत्त्व है । इस समय वेद से ज्यादा इसने काम किया । बात ये जो कह रहे हैं मन्त्र-तन्त्र पूजापाठ, तो इसकी तीन स्थिति हैं— स्थूल, सूक्ष्म, पर । स्थूल है मूर्ति या उनकी आकृति, देवता-ध्यान कर्मकाण्ड । सूक्ष्म है मन्त्र, उसमें बड़ी शक्ति मानी गई है । इनमें किसी को छोड़ा नहीं जा सकता । सब तीनों मिलकर चलते हैं और उत्तरोत्तर भूमिका बनने पर उसका पीछे का छूट जाता है, जैसे आपने कहा नाव को छोड़ दो वह अपने आप छूट जायगा । इस क्षेत्र में भक्ति का भी बहुत उपयोग है । "भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थः" अद्वैतभाव को धारण कर "शिवो भूत्वा शिवं व्रजेत्" यह तन्त्र का दर्शन है । इसी तरह की कुछ और भी बातें हैं । बस, अभी मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता ।

प्र० व्रजवल्लभ द्विवेदी

इस चर्चा को समाप्त करने से पहले मैं एक दो बातें स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । एक तो यह कि संस्कृति शब्द प्रायः वर्तमान अर्थ में ही शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता (७.१४) में मिलता है । "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" विश्वभारती में प्रसिद्ध यह वाक्य भी यजुर्वेद का ही है । अतः इसके लिये कृष्टि जैसे शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है । मालिनीविजय का जो मैंने उद्धरण पढ़ा, उस पर विद्वानों का विचार है कि यह उच्च स्थिति में पहुंचे हुए व्यक्तियों के लिये है । यहां आभिजात्यवाद हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है । इस सहज स्थिति से तो प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक मानव गुजर सकता है और अपने मन को परिष्कृत कर सकता है । यहां कहा गया है कि जितना तुमसे हो सकता है, वह करो । जो नहीं हो सकता, वह मत करो, किन्तु इतना अवश्य करो कि मन निर्मल होता जाय । मन की निर्मलता मूलतः सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या है । योगी अरविन्द का सपना है कि कभी मनुष्य का मन दैवी मन बन जायगा, तो उसका रास्ता इस तरह के वचनों में ही है । तान्त्रिक दीक्षा के अधिकारी के विषय में भी यहां चर्चा हुई । तान्त्रिक रहस्यवाद की चर्चा हम छोड़ देते हैं, तो उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आलोक से लाभान्वित होने का मानव मात्र को अधिकार है । सिद्धों और सन्तों की पूरी परम्परा इसका समर्थन करती है । इस लिये एक हजार वर्ष से पहले जाने से हमारा यह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सांस्कृतिक एकता का ताना-बाना तो उसी समय बुना गया था, जिसकी कि चर्चा अनजाने में ही प्र० युगेश्वर जी ने कर दी है कि करीब-करीब सब एक से हैं । हीनता-बोध से पीड़ित होने की भी चर्चा हुई है । इसके विषय में तो इतना ही कहा जा सकता है कि विदेशी प्रचार से आक्रान्त और अपसंस्कृति का वरण करने वाले व्यक्ति ही इसके शिकार हो सकते हैं । संस्कृति का एक ही दोष हमें नजर आता है कि प्रायः प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने धर्म के विनाश का खतरा इसमें देखने लगता है ।

मैं अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दार्शनिक चर्चा प्रारम्भ करना चाहता हूँ। मैं यहाँ दो श्लोक सुनाना चाहता हूँ। ये शैव दर्शन के ग्रन्थों में उद्धृत हैं, एक नागार्जुन के 'नाम' से और दूसरा बिना नाम के, किन्तु अब कम्बलपाद की आलोकमाला उपलब्ध हो गई है। वहाँ यह मिलता है। ये दोनों श्लोक शून्यता की व्याख्या करते हैं। नागार्जुन के नाम से जो श्लोक उद्धृत है, वह माध्यमिककारिका में उपलब्ध नहीं है। वे श्लोक ये हैं—

सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥

दूसरा है—

विरुद्धत्वात् तमोवृत्तेर्नावकाशं ददाति सा ।
सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते ॥
न पुनर्लोकरूढश्चैव नास्तिक्यार्थानुपातिनी ।

यहाँ शून्यता की व्याख्या की गई है, किन्तु उसका स्वरूप नागार्जुन के द्वारा प्रतिपादित शून्यता से भिन्न है। स्पष्ट है कि शून्यता के पारिभाषिक अर्थ में भी अन्तर आया। तान्त्रिक दर्शन की प्रत्येक शाखा में दार्शनिक विचारों के विकासक्रम की स्पष्ट झलक मिलती है। अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मायावाद, विज्ञानवाद और आगमिक द्वैतवाद की परिणति है प्रत्यभिज्ञा दर्शन। इस प्रक्रिया पर हमें विचार करना चाहिये।

प्र० लक्ष्मीनारायण तिवारी

नागार्जुन कहते हैं—"अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् । तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयते विचक्षणेः ॥" इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"न वयं नास्तिका अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन मध्यमपुरगामिनो वयं निर्वाणपथं विद्योतयामः"। आप जो कह रहे हैं, इसके नजदीक तो नागार्जुन आते हैं। नागार्जुन तो यही कहते हैं कि सारी भ्रान्ति हट गयी तो, हो गई हमारे दर्शन की स्थापना। जैसे खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष कहते हैं कि हमारे पास तो दुधारी तलवार है। यदि तुम कहो कि ब्रह्म की परिभाषा नहीं हो सकती, तो क्या यही परिभाषा नहीं हो जायगी कि उसकी परिभाषा नहीं हो सकती? ज्ञानसारसमुच्चय संस्कृत में नहीं मिलता, जिसको बौद्धों के खण्डन के समय वाचस्पति मिश्र ने भ्रान्ति के प्रसंग में उद्धृत किया है। उसका तिब्बती अनुवाद है। यह ग्रन्थ आर्यदेव का है। उसे हम लोगों को देखना चाहिये।

प्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

ऊपर के श्लोक में एक शब्द है—"तमोवृत्तेः"। मैं समझता हूँ बौद्ध दर्शन का यह शब्द नहीं है। सत्त्व, रज तमः—इन शब्दों का प्रयोग बौद्ध दर्शन में होता है या नहीं, मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं उसका विद्यार्थी नहीं हूँ। यह तो एक यात्रा है। इस तरह की भारतीय दर्शन की यात्रा पर पहले हम विचार करें।

दूसरा विषय यह है कि सूफी मत पर शांकर वेदान्त का, जिसकी कि यहां अभी आचार्यों के दर्शन के रूप में चर्चा हुई है, प्रभाव है या तान्त्रिक दर्शन का । ये दो प्रश्न हम लोगों के सामने हैं । मैं पहले प्र० कमलेशदत्त जी को दार्शनिक पक्ष उपस्थित करने के लिये और सूफीमत के लिये प्र० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी से निवेदन करूंगा ।

प्र० कमलेशदत्त त्रिपाठी

अध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वद्वन्द ! आगम के तात्त्विक पक्ष और दार्शनिक पक्ष की ओर कुछ संकेत करने के लिये मुझे कहा गया है । पहले हमारे मन में यह स्पष्ट अवधारणा रहनी चाहिये कि हमारी दार्शनिक समस्या क्या है ? भारतीय चिन्तन की केन्द्रीय दार्शनिक समस्या क्या है ? जिसका उत्तर एक ओर वैदिक प्रस्थान देता है और दूसरी ओर आगमिक प्रस्थान ।

मुझे ध्यान आता है कि इस प्रश्न को हमारे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन के पूर्व विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्र० रमाकान्त त्रिपाठी ने कुछ वर्षों पहले उठाया था और संक्षेप में उनके सारे उपस्थापन का निष्कर्ष यह था कि समस्त भारतीय चिन्तन की मूल दार्शनिक समस्या है— अहंकार पर विजय पाना । उन्होंने उस तरफ संकेत करते हुए जो बातें कही थीं, तत्काल मुझे यह लगा कि वाक्यपदीयकार ने भी इधर सुस्पष्ट संकेत किया है । "प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः । एकोऽप्यनेकवर्त्मैव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥" इस कारिका पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखते हुए आरम्भ में ही वे प्राप्ति की परिभाषा करते हैं— "ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रममात्रं ब्रह्मणः प्राप्तिः" । ब्रह्म की संप्राप्ति अथवा मोक्ष वस्तुतः 'अहं और मम' इस अहंकार ग्रन्थि से समतिक्रमण है । यह बात समस्त भारतीय दर्शनो पर लागू होती है । इस मूल दार्शनिक समस्या का समाधान जिस तरह से दिया गया, उधर भी प्र० त्रिपाठी ने संकेत किया था । जब यह अहंकार गहन आग्रह के रूप में लिया जाय, घोर आग्रह के रूप में लिया जाय, जिस आग्रह की ओर हमारे प्र० युगेश्वर जी ने संकेत किया है, वह आग्रह नित्य सत्ता को स्वीकार करने, ध्रुव आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के कारण हो सकता है कि वह गहन आग्रह भी वहां आ जाय । इसीलिये बौद्ध चिन्तन में शून्यवाद की परिनिष्पत्ति हुई और वहां उस आत्मतत्त्व को एक तरह से शून्यतत्त्व के रूप में देखा गया । दार्शनिक रूप से जिसकी चिन्ता हमारे भाई श्री तिवारी जी ज्यादा साफ तरह से करेंगे, उसको हम छोड़ते हैं ।

लेकिन दूसरी ओर इस दार्शनिक समस्या का जैन दर्शन में जो उत्तर दिया गया, वह भी उस आग्रह का ही उत्तर है । आग्रह यही है न कि हमारी दृष्टि अत्यन्त शुचि है, सही है, यह कैसे हो सकता है ? उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया, वह स्याद्वाद और एकान्तवाद के द्वारा दिया । अब हम यह देखें कि इस दार्शनिक समस्या का उत्तर आगम किस रूप में देते हैं । मुझे लगता है कि अत्यन्त संक्षेप में अगर इस बात को मैं कहना चाहू तो आगम इस मूल समस्या का उत्तर दो तरह से देते हैं । एक तरफ तो आगम के वे प्रस्थान हैं, जो वेदान्त से अपना सामरस्य बनाते हुए चलते हैं । यह बात भी यही मैं कह

दू कि इस पर वाक्यपदीयकार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण संकेत है । वैदिक और तान्त्रिक जो दो धाराएं हैं, वे क्या परस्पर विलक्षण और विरुद्ध हैं ? अथवा उनका कहीं पर सामरस्य है । प्रो० खिस्ते जी ने इधर हमारा ध्यान दिलाया है । यह बड़ी अद्भुत बात है कि वाक्यपदीयकार स्वयं व्याकरण के बारे में दो तरह के दावे करते हैं । "प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः" । व्याकरण प्रथम वेदांग है, इसलिये सुस्पष्ट रूप से व्याकरण वैदिक परम्परा में आता है । दूसरी ओर स्वयं वाक्यपदीयकार यह घोषित करते हैं—"लुप्तो व्याकरणागमः", "पर्वतादागमं लब्ध्वा", "न चागमादृते धर्मस्तेकेण व्यवतिष्ठते", "ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्" इनसे ऐसा लगता है कि एक साथ व्याकरण वैदिक परम्परा में भी है और आगम परम्परा का तो वह अत्यन्त उत्कृष्ट और मूलभूत आकर ही है । व्याकरण में जहां एक ओर वैदिक परम्परा है, वहीं दूसरी ओर आगमिक परम्परा एक साथ समुपस्थित है । इसीलिये वैदिक दृष्टि से वे कहते हैं—"सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा । युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाऽविरोधिनी ॥" उस समस्त वैदिक वाङ्मय में जो सर्वविशुद्ध सत्य है, वह सर्वविशुद्ध सत्य प्रणव के रूप में उपस्थित है । "तस्यार्थवादरूपाणि निश्चिताः स्वविकल्पजाः । एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः ॥" यह जो एकत्व या द्वैत, जो कुछ भी है, यह सब वस्तुतः अर्थवाद के ऊपर आधारित प्रवाद है । प्रवाद शब्द का एक निश्चित पारिभाषिक अर्थ में वाक्यपदीयकार ने प्रयोग किया है, जिसे उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति सुस्पष्ट करती है । इस तरह से एक ओर तो उसी व्याकरण दर्शन में वैदिक परम्परा है और इसी व्याकरण दर्शन में पुनः आगम भी उपस्थित होता है ।

यह आगम क्या है ? आगम वस्तुतः वह ज्ञान है, जिस ज्ञान की ओर आदरणीय द्विवेदी जी ने प्रातःकाल और अभी भी संकेत किया है कि यह चार पादों के रूप में अनिवार्य रूप से समस्त आगमों में समुपस्थित है और जिसका पार्यन्तिक रूप है ज्ञान । यह ज्ञान ही वस्तुतः आगम का परमार्थ है । आगम के अन्य अन्य अर्थ भी हैं । वाक्यपदीयकार ने उनको बड़े विस्तार से स्वोपज्ञ वृत्ति में भी दिया है । वे कहते हैं— "न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः" । यदि तत्त्व अविचारित होता है, तो अतत्त्व कहलाता है । जहां विचार है, वहां विचार के भीतर निहित जो तात्त्विक ज्ञान है, वह तात्त्विक ज्ञान ही वस्तुतः आगम का परमार्थ है । इसीलिये आगम का जो परमार्थ है, निष्कृष्ट अर्थ है, वह सवित् है । अब प्रश्न यह होता है कि वैदिक परम्परा का भी पर्यवसान ज्ञान में है और आगम का भी पर्यवसान ज्ञान में है । तब वह किस रूप में एक दूसरे से भिन्न है । यही पर आगम की विशिष्ट दार्शनिक भूमिका है ।

प्रातःस्मरणीय कविराज जी का जो संकेत आरम्भ में ही द्विवेदी जी ने दिया है, मैं उसी सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़ना चाहता हूँ । अद्वैत वेदान्त ने जो बात की थी या ऐसे ही दर्शनो ने जो बात की थी, वे सब ठीक हैं, अनादि हैं । समस्त आगम के दर्शन का पर्यवसान उस 'इन्टीग्रल फिलोसॉफी' में है, उस समग्र दर्शन की उपस्थिति में है, जहां विश्व की पूरी की पूरी व्याख्या

भी सम्भव है । इसीलिये चाहे कोई भी आगम हो, चाहे कोई भी तन्त्र हो, उसका पर्यवसान एक सोपान की कल्पना के रूप में करना पड़ता है । अन्ततः इस सोपान का पर्यवसान उस समग्र तत्त्वदृष्टि के भीतर आता है, जिसमें विश्व भी उसी का वैभव है, उसी का विलास है, उसी का प्रसर है । जिन भी शब्दों का प्रयोग हो, यह समस्त आगम-चिन्तन में लागू होगा और इसके लिये जो एक विशिष्ट मार्ग वेद से होता हुआ आता है, उसमें वाक्त्व की अत्यन्त विशिष्ट भूमिका है । इसीलिये मैंने व्याकरण का संकेत करते हुए आगम के तात्त्विक चिन्तन की ओर आपका ध्यान दिलाने का प्रयास किया है । समस्त आगमिक दर्शन, समस्त तात्त्विक दर्शन और विशेष रूप से, सबके ऊपर कहने का मेरा दावा नहीं है, शाक्त और शैव सम्प्रदायों में जो वाक् की अतिविशिष्ट भूमिका है, वह अतिविशिष्ट भूमिका व्याकरण दर्शन से होती हुई आती है । कश्मीर शैव दर्शन में जो विचार है, जो पारिभाषिक शब्द है, आज उन पर विस्तार से कहने का अवसर नहीं है, लेकिन ऐसा लगता है कि ये सब व्याकरण दर्शन से आये हैं । वैसे श्रुति में सब विद्यमान है । "विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोऽभयं सह", व्याकरण दर्शन में भी विद्या और अविद्या दोनों हैं और दोनों उस पर-तत्त्व की शक्ति के रूप में हैं । वहां से जो विचार समुत्पन्न होता है, वह व्याकरण दर्शन में— "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥", "सर्वपरिकल्पाती तत्त्वं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्ट सर्वाभिः शक्तिभिर्विद्याविद्याप्रविभारूपमप्रविभागं कालभेददर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया च व्यवहारनुपातिभिर्धर्माधर्मैः सर्वावस्थासु अनाश्रितमनादिनिधनं ब्रह्म इति प्रतिज्ञायते"— इस तरह से प्रतिज्ञात है ।

व्याकरण दर्शन की यह प्रतिज्ञा है और व्याकरण दर्शन का जो विवेच्य विषय है, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या कर देता है—"अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितिलक्षणाः । अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ॥" हेलाराज ने यहां प्रश्न किया है कि व्याकरण का मुख्य प्रतिपाद्य क्या है ? और उत्तर में कहा कि—"अष्टौ पदार्था व्याकरणस्य मुख्यं प्रतिपाद्यम्" । यह बात व्याकरण परम्परा से अनुमोदित नहीं है । स्वयं वाक्यपदीय से भी अनुमोदित नहीं है । इस शास्त्र का जो प्रतिपाद्य है, वह है विविध शब्द, विविध अर्थ, विविध सम्बन्ध, विविध प्रयोजन । व्याकरण का एक दूसरा अंश है, जो स्मृति है । स्मृति का मतलब क्या होता है ? जहां धर्माधर्मव्यवस्था है, वह स्मृति है । व्याकरण का वह अंश, जहां धर्माधर्मव्यवस्था की ओर संकेत है, वह उसका स्मृत्यंश है । जहां प्रक्रिया का विवेचन है, वह उसका शास्त्रांश है और जहां ज्ञान का विवेचन है, वह उसका आगमांश है । इस दृष्टि से वाक्यपदीय मुख्यतः आगम का ग्रन्थ है । "समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च, शास्त्रपूर्वकप्रयोगे धर्मीनियमः" । अशुद्ध वाक्य का प्रयोग करने से कोई फासी नहीं लगती, कोई पाप नहीं होता, लेकिन शुद्ध शब्द का प्रयोग करने से धर्म की निष्पत्ति होती है, धर्म की निष्पत्ति से विशुद्धि होती है, उस विशुद्धि से अधिकार बनता है और फिर उस अधिकार के द्वारा शब्दपूर्वयोग की सम्प्राप्ति होती है । शब्दपूर्वयोग के संबन्ध में हमारे गुरु आचार्य रामेश्वर झा जी से पढ़ते हुए हमने जाना कि शब्दपूर्वयोग का अर्थ क्या

है ? अमरकोष को उद्धृत करते हुए उन्होंने बताया था कि पूर्व का अर्थ है अतीत । शब्दपूर्वयोग शब्द से अतीत होने का योग है । शब्द से शब्दातीत को, क्रम से अक्रम को पकड़ना ही इसका लक्ष्य है । इसीको एक जगह क्रमसंहारयोग नाम दिया गया है और दूसरी ओर यह शब्दातीतयोग है । समस्त विकल्प से उत्तीर्ण होना आवश्यक है और वह विकल्प हमेशा शब्द से गर्भित है— "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिदं सर्वं ज्ञानं शब्देन भाषते ॥" अत एव समस्त विकल्पात्मक स्थिति से उत्तीर्ण होने में व्याकरणशास्त्र का महनीय योग है । व्याकरण का एक विशिष्ट योग है । व्याकरण दर्शन की अपनी तत्त्वप्रक्रिया है । वह उसे आगम से जोड़ती है और इस आगम में वाक् की विशिष्ट भूमिका है । परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी यह चतुर्विधा वाक् है या त्रिविधा, इस बहस में मैं पड़ना नहीं चाहता । लेकिन चतुर्विधा वाक् की जो समुपस्थिति है, वहां पर जो विमर्श है, जो प्रत्यवमर्श है— "न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी"— वह इस ग्रन्थ से ही प्रमाणित है । यहां प्रकाश-विमर्श की जो तात्त्विक अवस्थिति है, इन सबकी भूमिका में आगम के दर्शन की, विशेषतः शैव और शाक्त दर्शन की जो तात्त्विक स्थिति है, जो दार्शनिक स्थिति है, उस पर विचार किया जाना चाहिये ।

अगर संस्कृति की बात आप करते हैं, तो पहले हमें यह बताना होगा कि इस देश की संस्कृति के केन्द्रीय मूल्य क्या हैं ? जिसके इर्द गिर्द यह सारी संस्कृति घूमती है । अगर इसको आप ध्यान से देखना चाहे, तो पहले पश्चिम की संस्कृति से विलक्षण भारतीय संस्कृति के मूल्यों को आप बताइये और तब बताइये कि उसकी संरक्षा के लिये इस आगम ने क्या किया । तभी बात स्पष्ट होगी । इस देश के सांस्कृतिक केन्द्रीय मूल्य की बात प्रो० डी० डी० कोशाम्बी ने अपने ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन" में उठाई है । उन्होंने कहा है कि अगर दो ही शब्दों में भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय मूल्यों को बताना है, तो मैं कहूंगा कि वह केन्द्रीय मूल्य पहला धर्म और दूसरा प्रेम है । पश्चिम के केन्द्रीय मूल्य को अगर कहना चाहे, तो पहला 'प्रॉवेस' और दूसरा 'लव' है । कोशाम्बी कहते हैं कि जब अपकर्ष में देखना चाहे तो ज्यादा साफ दिखाई पड़ता है । जब लव का, प्रेम का अपकर्ष होता है, तो वह सेक्स होता है और जब धर्म का अपकर्ष होता है, तो उसके दो रूप बनते हैं— एक तत्त्वचिन्तापरक रूप और दूसरा आचारपरक रूप । जब आचार का अपकर्ष होगा, तो भ्रष्टाचार होगा और जब तत्त्व का अपकर्ष होगा, तो क्या होगा, यह बात उन्होंने नहीं कही ।

मैं स्वयं अपने से इस विषय में सोच रहा हूँ कि जब धर्म का अपकर्ष होगा, जब आचार का अपकर्ष होगा तो भ्रष्टाचार होगा और जब तत्त्व की दृष्टि से अपकर्ष होगा, तो वह अन्धविश्वास होगा । समस्त भारतीय सांस्कृतिक अपकर्ष के मूल में आज एक ओर भ्रष्टाचार, दूसरी ओर अन्धविश्वास और तीसरी ओर है काम, जो— "ग्रह-गृहीत पुनि ताप वश तापर वीछी मार । ताहि पियाई वारुणी कहहु कवन उपचार ॥" इस वचन को सार्थक करता है । पश्चिम का अपकर्ष भी जब आपमें आकर मिल जाय सेक्स और प्रॉवेस का जब

अपकर्ष हो, तो वह है 'पालिटिक्स ऑफ पावर' । और प्रॉवेस का जब अपकर्ष होगा, तो वह 'वायलेंस' होगा । समस्त पश्चिमी संस्कृति का अपकर्ष उसकी हिंसापरकता में है । जब वह हिन्दुस्तान में आ जाय, तो पंजाब का आतंकवाद बनेगा, कश्मीर का आतंकवाद बनेगा । यह आतंकवाद चीज क्या है ? यह कहां से आ गया ? ये जो वह आतंतायी हैं, वे हिंसा के इस अपकर्ष को ले लेने के कारण हैं ।

अब मैं यहां आता हूँ कि हमारे आगम ने भारतीय धार्मिक आचारपरक जीवन को, तत्त्वचिन्तापरक जीवन को क्या दिया ? और प्रेम को क्या मिला ? इसका उत्तर यह है कि प्रेम के दो प्रकार हैं— रागगत और अहंकारगत । राग का अगर उदात्तीकरण किया जाय, तो एक ओर भक्ति बनेगी, प्रेम का जो उदात्तीकरण है, ऊर्ध्वीकरण है, वह एक ओर भक्ति-प्रस्थान के रूप में आया और दूसरी ओर प्रेम का उदात्तीकरण तन्त्र के मार्ग से आया, जहां पंचमकार को भी स्वीकार किया गया । यह संस्कृति के मूल तत्त्व को ऊपर ले जाने की एक चेष्टा है । इसलिये समस्त तान्त्रिक चर्या में प्रेम को लेकर एक विशेष प्रकार का विस्तार किया गया है । और इस केन्द्रीय तत्त्व को उत्कर्ष भी दिया गया है ।

प्र० एन० एच० साम्तानी

हम लोग तो इस कार्यशाला में ज्ञानवर्धन के लिये आये हुए हैं । हमारा तन्त्र के अध्ययन की ओर कुछ झुकाव हो, इसलिये इसको समझने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन मुझे कभी कभी ऐसा लगता है कि हम लोगों ने बहुत विशाल विषय चुन लिया है, जिसके कई उपविषय भी हैं और समय के अभाव में उसके साथ न्याय नहीं हो सकता । हमारे विचार में जैसे कल ही प्र० जी० सी० पाण्डेय से बात हुई, महापुरुषों के वचन बड़े सरल थे । बुद्ध ने उपदेश बहुत सरल रूप में दिया था, जिसमें कोई भी इस प्रकार की बात नहीं थी जो आदमी को समझ में न आवे । फिर भी जैसे किसी वस्तु का विकास होता है, मानव समाज का भी उसी प्रकार विकास हुआ है । बौद्ध धर्म के विकास में भी तन्त्र का प्रवेश स्वाभाविक ही था । लेकिन मेरे विचार में इधर हम बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे, तो हमें मिलेगा कि उसकी आरम्भिक स्थिति में तान्त्रिक प्रभाव उसमें कम नजर आता है, जो धीरे धीरे विकसित हुआ ।

अब हम देखें कि बौद्ध धर्म की मूल देशना क्या है ? अगर 'फण्डामेंटल्स ऑफ बुद्धिज्म' पर एक दृष्टिपात करें तो जो बात नजर आती है, इसके बारे में किसी को संदेह नहीं हो सकता न विवाद । भगवान् बुद्ध ने दुःख और दुःखनिरोध की देशना की । दो मुख्य सिद्धान्त भगवान् ने कहे थे कि दुःख है, लेकिन दुःख का निवारण भी है तथा उसका उन्होंने मार्ग भी बतलाया, जिसे दुःखनिरोधमार्गिनी प्रतिपद् या आर्याष्टांग मार्ग कहा जाता है । उसको आप शील, समाधि एवं प्रज्ञा में विभाजित कर सकते हैं । ये तीनों ही शब्द एक बात को बतलाते हैं । आर्य मार्ग जब शील, समाधि और प्रज्ञा में

विभाजित हुआ, तो व्यक्तियों की भी तीन श्रेणियाँ देखी गईं । कोई शील-प्रधान व्यक्ति है, जो शील पर आधारित अपना जीवन चलाना चाहता है । कोई समाधि-प्रधान है, जिसको समाधि में रस (जिसे आस्वादना कहते हैं) आता है और समाधि में ही वह अपना जीवन बिताना चाहता है । तीसरा व्यक्ति प्रज्ञाशील बन जाता है और जिसको आधुनिक भाषा में इन्टेलेक्चुअल कहा जाता है । यद्यपि 'प्रज्ञा' केवल बुद्धि का विलास नहीं है, वह तो सम्यक्दृष्टि का ही दूसरा नाम है । ये तीन प्रकार के व्यक्ति आज भी पाये जाते हैं । इन्टेलेक्चुअल ओरेन्टेड, अध्ययनशील होता है । कुछ एक एकाग्र होकर कुछ काम करते हैं, किसी भी कार्य में दत्तचित्त हो जाते हैं और कुछ एक्शन (कर्म) ओरेन्टेड है, सदैव काम करना चाहते हैं, जिसको हम वीर्य-प्रधान कहते हैं । ये तीनों वर्गीकरण बौद्ध धर्म में नजर आते हैं । इधर हम देखें कि इसका जो विशद विश्लेषण हुआ है और बौद्ध धर्म के सारे सिद्धान्त विश्लेषण प्रक्रिया पर आधारित हैं ।

हम जब गहरे जायेंगे तो देखेंगे कि भगवान् बुद्ध ने दो बलों का प्रतिपादन किया है— प्रतिसंख्यान-बल और भावना-बल । ये धम्मसंगणि में भी आये हैं और इधर संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिसंख्यान-बल और भावना-बल की चर्चा है । ये दोनों पावर्स (शक्तियाँ) हैं । एक प्रज्ञा का पावर है, परन्तु वह मात्र इन्टेलेक्चुअल पावर नहीं है, जिससे कभी कभी लगता है कि यह सारा संसार आक्रान्त है । यदि ढंग से प्रज्ञा-बल का प्रयोग किया जाय, तो इसमें मार्ग भी निकल सकता है और ये न्यूक्युलर बम के खतरे को प्रज्ञा द्वारा ही खतम कर सकते हैं । यदि सही दृष्टि को प्रस्तुत करें, तो विनाश के काम को इन्टेलेक्चुअल ही रोक सकते हैं । प्रतिसंख्यान-बल के अतिरिक्त दूसरा भावना-बल है । प्रज्ञा की महत्ता तो इससे ही स्पष्ट है, पूरा प्रज्ञापारमिता-साहित्य विकसित हुआ । लेकिन इस साहित्य में शील पर भी कोई कम बल नहीं दिया गया और समाधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । समाधि-भावना के भी कई वर्गीकरण हैं । उसमें एक विशेष भावना पर हम आपका ध्यान दिलाना चाहेंगे । वह है ऋद्धिपाद । अब ऋद्धिपाद का समावेश समाधि के ही अन्तर्गत है । समाधि भावनाओं में ऋद्धिपाद भी आ जाती है और ऋद्धिपाद भी एक भावना-बल की मानो प्रकर्ष स्थिति है । मेरे विचार में जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती थी, उसके लिये कुछ लोग लगे रहते थे । भगवान् बुद्ध के उपदेश जो हैं, उसमें एक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग है, वह है 'अधिमुक्ति' । प्राचीन वैदिक साहित्य में यह शब्द किस प्रकार प्रयुक्त हुआ मुझे पता नहीं, लेकिन 'आगम' और 'अधिमुक्ति' इन दोनों का बौद्ध साहित्य में काफी प्रयोग मिलता है । भगवान् बुद्ध जब भी उपदेश देते थे, सत्त्वविशेष की अधिमुक्ति (हिन्दी में 'झुकाव' कह सकते हैं) को जानकर देते थे ।

अधिमुक्ति 'आशय' से सम्बद्ध है, कुछ इस प्रकार के अधिमुक्ति वाले लोग थे, जो मेरे ख्याल में तन्त्र की तरफ झुकने वाले थे । तन्त्र को भी एक बड़ा पावर समझा गया और उस पावर को लेने के लिये संघर्ष आज भी है । हमारे भाई त्रिपाठी जी ने एक बात कही कि जो आज एकांनमिक (आर्थिक)

पावर है, उस पावर के पीछे जो आदमी की एक अधिमुक्ति है, उसके कारण मेरे विचार में इधर तान्त्रिक बौद्ध धर्म का विकास हुआ। तान्त्रिक बौद्ध धर्म को जैसा हमारे विद्वान् मित्र द्विवेदी जी ने ठीक रूप से कहा कि उसको केवल कर्मकाण्ड से नहीं जोड़ना चाहिये, लेकिन वह पावर है। आज अंग्रेजी में कई किताबें आ रही हैं। जैसे "पावर ऑफ तन्त्र" इत्यादि। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के शीर्षकों से पुस्तकें विदेशों में छप रही हैं और तन्त्र एक पावर है, उस पावर को लेने में सब आदमी लगे रहते हैं। जीवन में हर व्यक्ति पावर चाहता है। घर में भी आप देखेंगे कि पति पावरफुल बनना चाहता है, पत्नी भी पावर की बात करती है, परन्तु पावरफुल कौन है? पावर के पीछे एक अधिमुक्ति होती है, जो शक्ति विकसित होती है, मैं समझता हूँ, वही तन्त्र का विकास करती है। अब सवाल आता है कि तन्त्र का विकास वह जो पावर लेना है, वह क्या लोगों की भलाई के लिये है या लोगों के नुकसान के लिये? वह निश्चित ही लोककल्याण के लिये है, वह सर्व सत्त्वों के हित के लिये है। किसी को नुकसान पहुँचाने के लिये नहीं है। मुझे याद है कि किसी ने कहा कि अरे भाई वह तो बड़ा दुश्मन है उसे ठीक कीजिये, अतः कुछ तन्त्र का साधन कीजिये। इस स्थिति में तन्त्र की साधना दूसरों को नुकसान पहुँचाने के कारण कितनी गलत है, हेय है। तान्त्रिक शक्ति का विकास दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो यह बिल्कुल ही स्वाभाविक है। बौद्ध तन्त्रों में वह दूसरों के भले के लिये है और सत्त्वों के कल्याण के लिये है। इसमें रत्ती मात्र भी सन्देह नहीं। इन शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

प्रो० युगेश्वर

पश्चिम ने दो बिन्दु बनाए थे। एक प्राँवेस और दूसरा पावर। मैं कहना चाहता हूँ कि पावर दो तरह के होते हैं। आप अगर संतुलित पश्चिमी विचारधारा को देखें, तो वह पावर केवल अपने लिये इकट्ठा करता है। वह पावर देता नहीं किसी को, वह पावर लेता है। अगर आप यह मानें कि पावर उसकी संस्कृति का आधार है या उसकी सभ्यता का आधार है, तब आपको मानना पड़ेगा कि भारत में जब अंग्रेज आया था तो पावर देने आया था और इस दृष्टि से जिन लोगों ने अंग्रेजों को यहाँ से भगा दिया, वे नितान्त गलत लोग थे, क्योंकि जो पावर दे रहा था उसको निकाल दिया गया। हिन्दुस्तान में ऐसे लोगों की बड़ी भारी संख्या है, जो यह मानते हैं कि अंग्रेज हमको पावर देने आये थे। मेरा निवेदन यह है कि डॉ० डी० डी० कोशाम्बी को यह समझने में कठिनाई हुई। क्षमा करेंगे कि वे पावर देने नहीं, वे हिन्दुस्तान का पावर लेने आये थे और यह पावर लेना किसी सभ्य समाज की विशेषता नहीं हो सकती, यह किसी असभ्य समाज की विशेषता हो सकती है। जब कोई कहता है कि वह पावर उसकी संस्कृति का अंग है, तो मैं उसको असुर समाज का मानता हूँ। मेरे साथ और लोग भी हैं, मैं अकेला नहीं हूँ।

दूसरी बात जिस प्रेम की कही जाती है, इसी संदर्भ में आप अगर भारत को देखेंगे तो जब यह पावर देता है, तो दूसरे ढंग का पावर देता है, हिन्दुस्तान जब धर्म की बात करता है, वह एक ऐसे धर्म का विकास करता है, जो मानवीय धर्म है, जो सबके लिये है। दूसरी बात जो प्रेम की है, उनके प्रेम का भी एक निश्चित दायरा है। वह प्रेम एक व्यक्ति देगा, वही सबका कल्याण करेगा। यह जो प्रेम है, यह प्रेम भी एकाधिकार का प्रेम है, याने यह अधिनायकवादी प्रेम है। भारत जब धर्म और प्रेम की बात करता है, तो वह सभी बन्धनों से मुक्त है।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

मैं बहुत सक्षेप में यह कहना चाहता हूँ कि आपने व्याकरण पर इतना कहा और शुद्ध शब्दों के प्रयोग पर जोर दिया, किन्तु तन्त्र तो शब्दातीत है, मन्त्र की शुद्धि पर कौन व्याकरण लगेगा ? अभी पाठक जी ने एक मन्त्र सुनाया—“किलि किलि गिलि गिलि चिलि चिलि लिलि लिलि”। इस पर कौन सा व्याकरण लगेगा ? प्रो० सम्प्रानी जी ने कहा कि बौद्ध धर्म में पहले धारणियाँ नहीं थीं। हमारा कहना है कि यह आटानाटीसूत्र क्या है ? चुल्लवग्ग में जो सर्प की धारणी बतायी भगवान् बुद्ध ने, वह क्या है ? जो अंश प्राचीन है, यद्यपि उनमें विद्याओं का निषेध मिलता है, लेकिन इस निषेध से ही उनकी स्थिति का अन्दाजा हो जाता है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार तो हमारा जितना नवांग महायान साहित्य है, उसको पढ़ना ही नहीं चाहिये, क्योंकि व्याकरण के अनुसार यह सब अशुद्ध है। कोई वैयाकरण भाषा नहीं बनाता। महाभाष्यकार चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं पस्पशाह्निक भूमिका में कि शब्दार्थ संबन्ध के निश्चित होने पर ही व्याकरण की प्रवृत्ति होती है और यह सारा व्याकरण वर्णान्गम, वर्णलोप, वर्णविकार आदि से भरा है। यह भी कहा गया है कि सन्देह की स्थिति में शिष्टों को प्रमाण मानना चाहिये। प्रश्न उठता है कि शिष्ट कौन हैं ? महाभाष्यकार ने शिष्टों की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार आज हमें कोई शिष्ट नहीं मिलेगा। यहाँ व्याकरण या भाषा की शुद्धि-अशुद्धि की चर्चा नहीं हो रही है। यहाँ तो तान्त्रिक दर्शन की चर्चा चल रही है, उसी पर विचार व्यक्त किये जाने चाहिये।

प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी

दो बातों की मैं सक्षेप में चर्चा करना चाहता हूँ। मैं यह दावा करके नहीं बैठा हूँ कि आज सारे प्रश्नों का निर्णय हो जायगा। सगोष्ठी की सफलता होती है प्रश्नों को उठाने में। सबका समाधान हो, यह कोई जरूरी नहीं है। जहाँ तक डॉ० युगेश्वर जी का कहना है कि पावर की पश्चिमी अवधारणा, प्रेम की पश्चिमी अवधारणा और भारतीय शक्ति की अवधारणा और प्रेम की अवधारणा में भेद है। इसको मानने में किसी भी विचारशील व्यक्ति को कतई आपत्ति नहीं होगी। अंग्रेज यहाँ शक्ति देने आये थे, यह बात डॉ० डी० डी० कौशाम्बी ने कही नहीं कही है। मुझे केवल इतना कहना है कि मूल केन्द्रीय मूल्य है क्या ? अगर केन्द्रीय मूल्य प्रेम है, तो उसका अपकर्ष क्या है ? और आगम

ने उस प्रेम को किस तरह से देखा । आगम ने एक ओर उसे भक्ति के रूप में देखा और दूसरी तरफ उस प्रेम का ऊर्ध्वीकरण किया । ऊर्ध्वीकरण की प्रवृत्ति आगम की प्रवृत्ति है और यह उसका सांस्कृतिक अवदान है ।

दूसरी जो बहुत महत्वपूर्ण बात तिवारी जी ने उठाई, उस पर मेरा इतना ही निवेदन है कि शब्द से शब्दातीत की यात्रा आगमिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य है । इसमें वाक् की भूमिका क्या है ? वाक् को यहाँ शक्ति के रूप में मान्यता दी गई है । तत्त्व को शक्ति से युक्त मानना और शक्ति को वाक् रूप मानना और उनकी विमर्श-प्रत्यवमर्श के रूप में व्याख्या करना समस्त शाक्त और शैव आगमों का मुख्य विषय है और यही व्याकरण दर्शन की मुख्य भूमिका है ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं एक निवेदन करूँ । यह चर्चा अब कार्यशाला के विषय से भ्रमल जा रही है । मैं अपने विषय पर आने के लिये डॉ० बहुलकर जी से निवेदन करता हूँ ।

डॉ० एस० एस० बहुलकर

मैं इतना ही कहने वाला था, जो आपने कहा । मुझे ज्यादा कुछ कहना नहीं है, क्योंकि मेरी अपेक्षा दार्शनिक पक्ष के विषय में जब चर्चा होने वाली है, तो बौद्ध तन्त्र या दूसरे जो तन्त्र हैं, उनका अन्तिम लक्ष्य क्या है, उसके दर्शन का स्वरूप क्या है और उसके दार्शनिक पक्ष की पूर्वपीठिका क्या है, कौन सा दर्शन किस तन्त्र से सम्बद्ध है ? इस विषय पर चर्चा होना चाहिये, ऐसी मेरी अपेक्षा है । अभी इस विषय में मैं कुछ कहना नहीं चाहता ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

शब्दशुद्धि, वाक्शुद्धि और शक्ति के साथ शब्द के संबन्ध में डॉ० कमलेशदत्त जी ने जो कुछ कहा, उस पर मैं कोई आपत्ति नहीं उठाता । उसका खण्डन भी है, मण्डन भी है, यह शास्त्रों में बहुत हो चुका है । लेकिन एक प्रश्न यह आता है कि तन्त्र के दर्शन या तान्त्रिक संस्कृति के बारे में विचार करते समय तन्त्र में प्रयुक्त शब्दों को उसी अर्थ में हम लोग ग्रहण नहीं कर सकते, जो बोला जाता है, या लिखा जाता है । तान्त्रिक भाषा प्रायः व्यञ्जनाप्रधान होती है, वह संध्याभाषा होती है । यहाँ माता, भगिनी, पिता आदि शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं । पंचभूत बुद्ध की बात कह रहे हैं, वैरोचन की बात कह रहे हैं । इस तरह से जितने तान्त्रिक शब्द हैं, वे प्रायः उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते, जो कि लोक में प्रचलित है । हम वाच्यार्थ के आधार पर तन्त्र को समझ नहीं सकते । इसलिये व्याकरण दर्शन के आधार पर उसको समझने की चेष्टा करेंगे, तो उसमें थोड़ी असंगति पैदा हो जायगी, अर्थ का अनर्थ होने लगेगा । तान्त्रिक दर्शन की अवधारणाएँ दूसरे ढंग से चलती हैं, तान्त्रिक दर्शन का पूरा ढाँचा और उसकी मान्यता थोड़ी भिन्न है ।

प्र०० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं यह निवेदन करता हूँ कि शून्यता की परिभाषा मैंने सुनाई है । अब प्रश्न यह है कि नागार्जुन की परिभाषा से इसमें समानता है या नहीं ?

प्र०० सेम्पा दोर्जे

जहाँ तक ख्याल है, वह नागार्जुन के नाम से उद्धृत है, किन्तु हमें लगता है कि यह समाधिराजसूत्र या अक्षयमतिसूत्र का वचन है । समाधिराज में इस तरह के कई श्लोक हैं । अक्षयमतिसूत्र में भी इस तरह का एक श्लोक आता है । चन्द्रकीर्ति ने इस तरह के श्लोको को बार बार उद्धृत किया है । नागार्जुन के द्वारा माध्यमिक शास्त्र में प्रतिपादित शून्यता को तत्सम्मत मान लेने में कोई दिक्कत नहीं है । दूसरी बात यह है कि शब्दों की संरचना के पीछे एक अर्थ भी जुड़ा रहता है, उसका अभिप्राय भी रहता है । आभिप्रायिक दृष्टि से यदि कोई इसका दूसरा अर्थ हो तो उसे हम नहीं बता सकते । परम्परागत अध्ययन ही इसकी परम्परा को बता सकता है । पूरे अध्ययन की प्रासंगिकता के बिना सीधे हम श्लोक के सही अर्थ को नहीं बता सकते । यदि बता भी दे तो यह ईमानदारी नहीं होगी ।

तन्त्र के दर्शन के बारे में जहाँ तक प्रश्न है, इधर तो सब जगह बौद्ध परम्परा में कह दिया जाता है कि जो महायान दर्शन है, शून्यवादी दर्शन है या विज्ञानवादी दर्शन है, उससे तन्त्र का दर्शन अलग नहीं है । दर्शन से मेरा मतलब तत्त्वमीमांसा से है, कर्मकाण्ड की पद्धति से नहीं । तत्त्वमीमांसा का मतलब तत्त्वज्ञान से है । पारमितानय में प्रतिपादित जो ज्ञानमीमांसा है, इसके अतिरिक्त यहाँ ज्ञानमीमांसा की अलग से व्यवस्था नहीं है, ऐसा बौद्धाचार्यों का कहना है । कभी कभी ऐसी भी अवस्था आती है कि तत्त्वविषयक दृष्टि में बहुत ज्यादा फरक नहीं आता, लेकिन प्रतिपादक ज्ञान या उसी तत्त्वज्ञान को विषय बनाने वाले ज्ञान में बहुत फरक आ जाता है । इसीलिये यहाँ दर्शन की तत्त्व-मीमांसा के संदर्भ से एक तो उसके विषय का निर्णय, दूसरे उसके विषयी ज्ञान का निर्णय ये दोनों आते हैं । इस फरक को बताना मेरे ख्याल में संभव नहीं है, संकेतमात्र किया जा सकता है कि उसमें कुछ ज्ञान-विशेष की अवस्था रहती है और उस पर चर्चा की जा सकती है ।

डॉ० एस० एस० बहुलकर

डॉ० एस० वी० दासगुप्ता ने ऐसा एक विधान किया है कि बौद्ध तन्त्रों में माध्यमिकों की शून्यता के सिद्धान्त का और योगाचार की त्रिस्वभाव की कल्पना का मिश्रण किया गया है । इस विषय में आपकी क्या धारणा है, यह मैं सुनना चाहता हूँ ।

प्र०० रामशंकर त्रिपाठी

यह कहा जाता है कि तन्त्र में प्रवेश उसका नहीं हो सकता, जो योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन को नहीं जानता । अर्थात् तन्त्र के तत्त्वज्ञान

को समझने से पहले उसे योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन में परिपक्व होना चाहिये । यह भी कहा जाता है कि तन्त्र में साधनापक्ष है, याने इसमें वे उपाय प्रदर्शित हैं, जिनकी वजह से एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है । दर्शन की दृष्टि से तन्त्रयान और पारमितायान में फर्क नहीं होता । पारमितायान के दर्शन शून्यवाद और विज्ञानवाद की दृष्टि से तन्त्रयान का फर्क नहीं किया जाता, बल्कि पारमितायान में जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये असंख्य कल्पों तक पुण्य-संभार और ज्ञान-संभार का अर्जन करना पड़ता है, वही तान्त्रिक साधक जगत् के कल्याण के लिये महाकरुणा से प्रेरित हो शीघ्र से शीघ्र बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, इसके लिये वह तन्त्र-मार्ग का अवलम्बन करता है । मार्ग में फर्क है । बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये त्रिकाय की प्राप्ति की जाती है । पारमितायान में बुद्ध के रूपकाय को प्राप्त करने का सम्यक् उपाय प्रदर्शित नहीं है । भगवान् का जो धर्मकाय है, वह तो ज्ञानात्मक है । इसलिये प्रज्ञा उसका उपादान कारण हो जाती है, वह प्रज्ञा धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाती है । लेकिन भगवान् का जो रूपकाय है, उसके उपादान कारण की साधना पारमितायान में वर्णित नहीं है और तन्त्रशास्त्र में रूपकाय का उपादान कारण वर्णित है । उसके माध्यम से चट से रूपकाय की सिद्धि मिल जाती है । कहने का मतलब यह है कि तन्त्र का दर्शन योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन है ।

मुझे यह ज्ञात है कि वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति ने मूल-माध्यमिककारिका पर टीका लिखी है । उसमें प्रदर्शित किया गया है कि माध्यमिककारिका का अभिप्राय विज्ञानवाद में है । नागार्जुन को माध्यमिक दर्शन का आचार्य माना जाता है । उसमें भी एक ही प्रकार के माध्यमिक नहीं है । उसमें स्वातन्त्रिक माध्यमिक है, प्रासंगिक माध्यमिक है । स्वातन्त्रिक के भी दो भेद हैं— सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक । हमें ऐसा लगता है कि योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक, जो चित्त को अद्वय तत्त्व मानते हैं और परमार्थतः चित्त को निःस्वभाव मानते हैं, वह तन्त्र के दर्शन से ज्यादा अनुकूल है । तिब्बती परम्परा तन्त्र के दर्शन को प्रासंगिक माध्यमिक से जोड़ती है, लेकिन वह भी सही है कि वे अपनी व्याख्या करते हैं, प्रासंगिक माध्यमिक से भी उसको जोड़ा जा सकता है, लेकिन योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक का दर्शन ही मेरे ख्याल से ज्यादा युक्तियुक्त मालूम पड़ता है, उसमें ज्यादा क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती ।

प्र० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

प्र० त्रिपाठी जी को मैं एक सूचना देना चाहता हूँ । अद्वयवज्र ने अपनी तत्त्वरत्नावली में बताया है कि वैभाषिक आदि चारों सम्प्रदाय चित्त की प्रभास्वरता में पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं, इनसे कुछ न कुछ मल बचा रह जाता है, उसका परिशोधन मन्त्रनय से ही होता है । इस पृष्ठभूमि में मैं समझता हूँ कि नागार्जुन की जो शून्यता की परिभाषा थी, वह परस्पर के विचार-संघर्ष से

बदल करके इस रूप में उपस्थित हुई है । मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा हुआ है या नहीं ? यह आप बताइये ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

हमारा ख्याल है कि प्रासंगिक माध्यमिक के नय से तो ऐसा नहीं हो सकता, विज्ञानवादी दृष्टि इसमें हो सकती है—

सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः ।

सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥

इससे ऐसा लगता है कि शून्यता में भी विज्ञान की स्थिति रहती है, जैसा कि मध्यान्तविभाग में लिखा है—"अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते । शून्यता विद्यते तत्र" अर्थात् शून्यता में भी अभूत-परिकल्प रहता है, इसलिये वह एक दम निस्वभावता नहीं है, बल्कि विज्ञान की सत्ता उसमें रहती है । द्वयरहित, ग्राह्य-ग्राहक के द्वैत से रहित जो अद्वय चित्त है, उसकी सत्ता इसमें मालूम पड़ती है । इसलिये "न शून्यं परमार्थतः" का अर्थ इसमें लगता है । कम्बलपाद की आलोकमाला को मैंने भी पढ़ा है । इस पर विज्ञानवाद का प्रभाव ज्यादा है ।

डॉ० वडछुग् दोर्जे नेगी

एक जगह पर तन्त्र में ऐसा भी है, मेरा तो अपना विचार यही है । प्रसज्य और पर्युदास के भेद से शून्यता भी दो प्रकार की है । प्रसज्य शून्यता निषेधात्मक और पर्युदास शून्यता विधिरूप है । शून्यता का विधिरूप भी है । अभी उद्धृत वचन इसी के साथ मिलता जुलता है । यह डाकार्णवतन्त्र का है या बुद्धकपाल का, मैं स्पष्ट नहीं कह सकता, किन्तु वहां मार्गार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यता गर्भ में बच्चे के अभाव की तरह है, जिसकी आगे कोई परम्परा नहीं चलती और तन्त्र वाली शून्यता गर्भ की जैसी है, सन्तति के रूप में जिसकी परम्परा आगे बढ़ती है, अर्थात् उसमें विधिरूपता स्पष्ट होती है । इससे यह सिद्ध हो रहा है कि तन्त्र की शून्यता पर्युदासात्मक है, विधिरूप है । उसे ऐसा होना भी चाहिये । उस विधि का स्वरूप कैसा है ? वह निष्प्रपंच है, लेकिन यह निष्प्रपंच तत्त्व नित्य या कूटस्थ नहीं है । उसका स्वरूप निष्प्रपंच है, लेकिन चित्त में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी, जिसे हम प्रभास्वरता कह सकते हैं, उसकी स्थिति को हमें मानना होगा । हम जब दर्शनों को देखते हैं, तो कुछ निष्क्रिय जैसा ही खोजते रहते हैं, किन्तु कहीं कुछ भी प्राप्त नहीं होता । तन्त्र की साधना इससे संभव नहीं हो सकती । तन्त्रशास्त्र के अनुसार बुद्ध का शरीर तो नैरञ्जना में है, लेकिन उनका सूक्ष्म चित्त ऊपर आकर तन्त्र की देशना करता है, जैसा कि शाक्यमित्र आदि ने कहा, उसी प्रकार बुद्ध गृध्रकूट में प्रज्ञापारमिता की देशना देते हैं, सूक्ष्म प्राण-चित्त से ध्यानकटक में जाकर कालचक्र की देशना करते हैं । इन सब चीजों के आधार के रूप में यदि हम चित्त-प्रभास्वरता को स्वीकार न करें, तो तन्त्र खड़ा ही नहीं हो सकता । इसलिये मेरा तो यही कहना है कि चित्त प्रभास्वर स्वरूप है, उसको तन्त्र में स्वीकार करना ही होगा । हर कोई मत बौद्ध हो या बौद्धेतर हो, चाहे

सूफी हो, चाहे अन्य मत, सबको चित्त को निप्रपञ्च रूप में समाहित रहना पड़ता है । सभी धर्मों और दर्शनों में सिद्ध और महापुरुष उत्पन्न हुए हैं, चित्त की प्रभास्वरता ही इसका मुख्य कारण है । उसका साक्षात् होने पर ही ऋद्धि-सिद्धि या जो कुछ भी हो, उसकी प्राप्ति होती है । यह प्रभास्वरता ही पूरे तान्त्रिक वाङ्मय का तत्त्व-दर्शन होगा, ऐसा मैं समझता हूँ ।

प्र० रामशंकर त्रिपाठी

आप कहते हैं कि उपदेश और कल्याण कार्य करने के लिये प्रासंगिक वाली, प्रसज्य प्रतिषेध वाली शून्यता को नहीं माना जा सकता । ऐसा उपदेश शून्यता थोड़े देती है । प्रासंगिक माध्यमिक के मत में भी चित्त तो रह जाता है और वह प्रभास्वर ही रहता है ।

डॉ० वडछुग् दोर्जे नेगी

आचार्य नागार्जुन की निषेधात्मक पद्धति के अनुसार हम जो प्रतिवाद करेंगे, उससे हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा, ऐसी स्थिति में तन्त्र की साधना ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकती है ।

आचार्य नवाङ् समतेन

मैं समझता हूँ पारमितायान और तन्त्रयान की दार्शनिक दृष्टि में कोई भेद नहीं है, क्योंकि पारमितायान के अनुसार भी शून्यता के साक्षात्कार से ही क्लेशावरण का प्रहाण माना जाता है और इसी से अहंत्व की भी प्राप्ति होती है, क्योंकि यह सत्तामात्र का निषेध नहीं करती, उसके स्वभाव का निषेध करती है । जब हम साधना में प्रवृत्त होते हैं, तब पारमितायान और मन्त्रयान में एक अन्तर यह होता है कि पारमितायान में जब शून्यता का साक्षात्कार मार्ग-अवस्था में करते हैं, तो उस समय वह विध्यात्मक नहीं होती, वहां केवल शून्यता का ही साक्षात्कार होता है, उसका ही ध्यान करना होता है, जब कि तन्त्रयान में इन दोनों में साथ-साथ चलना पड़ता है । कई विद्वानों का मत यह भी है कि इसे वज्रयान इसलिये भी कहा जाता है कि शून्यता का आभास होते हुए भी हम देवता और मण्डल का भी ध्यान करते हैं और उनका आभास भी होता है । यही तन्त्रयान की विशेषता है । इसे ही वज्रयान कहा जाता है । पारमितायान में दोनों को एक साथ नहीं किया जा सकता । शून्यता का जब ध्यान करते हैं, तो केवल शून्यता ही रहती है । जब कि मन्त्रयान में इन दोनों का एक साथ ध्यान किया जा सकता है ।

प्र० एन० एच० साम्तानी

हमारा एक प्रश्न है कि जैसा आप लोग कह रहे हैं; पारमितायान पूर्ण नहीं है, तन्त्रयान का सहारा लेने पर उसको पूर्णता प्राप्त होती है । हम लोग क्या ऐसा मानकर चले कि पारमितायान की पूर्णता के लिये तन्त्रयान की अत्यन्त आवश्यकता है ?

प्र०० येशे थपख्ये

यह जो अभी चर्चा चल रही है, इसके बारे में मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। प्रज्ञापारमितासूत्र में शून्यता की व्यवस्था है और तन्त्र में भी शून्यता की व्यवस्था है। ये दोनों सूक्ष्म-स्थूल धाराएँ हैं, ऐसा कहने वाले बहुत से बौद्ध विद्वान् हैं। दूसरे विद्वान् इन दोनों के बीच भेद नहीं मानते। प्रज्ञापारमितासूत्र में शून्यता की जो व्यवस्था है, तन्त्रयान में भी वही है। इनमें सूक्ष्म और स्थूल का भेद नहीं होता। फरक यह होता है कि तन्त्र में जो सूक्ष्म ज्ञान है, मन के अवधूती में प्रवेश के कारण वायु के स्थिर हो कर विलीन हो जाने पर जीवन का जितना भी आभास है, वह सब खतम हो जाता है। उसके बाद एक दम शुद्ध, आकाश में आलोक के समान एक दम शुद्ध ज्ञान का आलोक फैल जाता है। इसकी हम महासुख के रूप में पहचान कर सकते हैं। शुक्र की जो गति है, उसी के वेश में महासुख को प्राप्त किया जाता है। ज्ञान भी अतिसूक्ष्म होता है। प्रज्ञापारमितासूत्र में इसकी भी व्याख्या उसी तरह से की गई है। एक दम उसको अलग नहीं किया जा सकता। उस ज्ञान में शून्यता का विषय क्या है, विषयी क्या है, इसको अलग नहीं किया जा सकता।

इसीलिये बौद्ध विद्वानों का मत है कि जो निषेध हो जाता है, उसमें भी विधि रह जाती है। यही शून्यता का पर्युदास पक्ष है। सब कोई इसमें एक दम एक मत नहीं है, किसी एक का यह मत है। लेकिन इसमें अधिकतर बोलने का फरक है, वास्तविक रूप में ज्यादा फरक नहीं है। शून्यता में जो ज्ञान रहता है, उस ज्ञान को अलग नहीं गिना जा सकता। शून्य कहें या शून्यता का ज्ञान कहें, उस समय ज्ञान अलग से नहीं रहता। इसीलिये वह विधि के रूप में है, सूक्ष्म ज्ञान की दृष्टि से वह विधि के रूप में है। कहने का मतलब यह है कि आचार्य चोङ्खापा ने प्रबल तर्क द्वारा यह सिद्ध किया है कि शून्यता में कोई फरक नहीं है, लेकिन उसको जानने वाले ज्ञान में बहुत फरक है। अभी आपने जो श्लोक पढ़ा, उसमें शून्यता की परमार्थता चर्चित है इस पर हमारा कहना यह है कि परमार्थ दो प्रकार का होता है—एक परमार्थ शब्द, जो ज्ञान के सामने रहता है, आर्यज्ञान के सामने रहता है, उसको परमार्थ सत्य कहा जाता है। दूसरे स्वतः सिद्ध को भी परमार्थ कहा जाता है। इसलिये शून्यता परमार्थ नहीं है, इसका मतलब होगा कि शून्यता भी एक शून्यता है, वह कभी परमार्थ नहीं है। ऐसी भी व्याख्या उस श्लोक की कर सकते हैं।

प्र०० रामशंकर त्रिपाठी

गेशे जी के कहने का मतलब यह है कि शून्यता में फर्क न हो, फिर भी शून्यता को जानने वाला जो ज्ञान है, वह पारमितायान का और तन्त्रयान का भिन्न है। पारमितायान में जो शून्यता को जानने वाला ज्ञान है, वह स्थूल ज्ञान है और तन्त्र का जो ज्ञान है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, जो मनुष्य के जीवन में कभी कभी प्रकट होता है। यह मृत्यु के बाद होता है। इसीलिये बौद्ध

साधक उस शून्यता-ज्ञान का साक्षात्कार करने के लिये मृत्यु की साधना करते हैं । उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की पद्धति से सारे पंचमहाभूतों को विलीन कर दिया जाता है । फिर आलोक होता है, आलोकाभास होता है, आलोकोपलब्धि होती है और वह आलोक की उपलब्धि की अवस्था में एकदम शून्य हो जाता है । फिर एक प्रभास्वरता पैदा होती है । सूक्ष्म ज्ञान व्यक्ति के भीतर है और सूक्ष्म प्राण से संयुक्त है । लेकिन वे दोनों भी शून्य हैं । सूक्ष्म ज्ञान अपनी शून्यता में "चन्द्रचन्द्रिकयोरिव" भेदाभेद रूप में अवस्थित है । यह चीज पारमितायान में नहीं है । उस शून्यता से युक्त ज्ञान को प्रकट करना ही बुद्ध का धर्मकाय है और इसी के लिये सारी तन्त्र की साधना होती है ।

डॉ० वडछुग् दोर्जे नेगी

विषय निष्प्रपञ्च है, इसमें दो राय नहीं । तन्त्र में जहां कहीं भी हो, नागार्जुन की निष्प्रपञ्चता से अधिक कुछ भी नहीं है, लेकिन जो निष्प्रपञ्चता का बोध कर रहा है, वह क्या है ? विषयी वह भी निष्प्रपञ्च है या नहीं ? उसका विधि रूप है या नहीं ? उसका अस्तित्व है या नहीं ? प्रश्न यह है । अगर उसको हम स्वीकार नहीं करते, तो तन्त्र-साधना व्यर्थ जायगी ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जो नागार्जुन का पहला शून्यता का लक्षण है, वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है । आलोकमाला के उक्त श्लोक में दिया गया लक्षण उससे भिन्न है । भारतीय दर्शन के दो पक्ष हैं— एक तो शास्त्रार्थ वाला पक्ष है, जो नागार्जुन के पक्ष को आज भी उसी रूप में प्रस्तुत करता है । दूसरा पक्ष विकासशीलता को दिखाता है । शून्यता का दूसरा लक्षण इसी का साक्षी है । भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में यह हमें देखने को मिलेगा । परस्पर के घात-प्रतिघात से, एक दूसरे के साथ हुए वाद-विवाद से ऐसा हुआ, इस निष्कर्ष से आप सहमत हैं कि नहीं ?

प्रो० सेम्पा दोर्जे

उक्त श्लोक के बारे में हम जो कह रहे हैं, यहां माध्यमिक दर्शन की दो परम्पराएं हैं— एक नागार्जुन की परम्परा है दूसरी अद्वयवज्र वाली है । नागार्जुन की परम्परा को सर्व-शून्यवाद कहा जाता है और अद्वयवज्र की परम्परा को सवित्तिवाद (माया) कहा जाता है । पहले शून्यवाद को माध्यमिक, प्रासंगिक माध्यमिक, मायासंवृतिवाद, मायोपम संवृतिवाद, मायोपम स्वभाववाद कहते हैं, उसका यह लक्षण इसमें है । वह तो सर्वशून्य की बात नहीं कह रहे हैं यहां पर, इसलिये ये दो श्लोक थोड़ा भिन्न हो जाते हैं ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

उस शून्यता का स्वरूप क्या है ? स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।

अभावः स तु विज्ञेयो यत्र भावा क्षयं गताः ॥

जिसमें सब भावों का निषेध है, वह शून्य रूप है, वही शून्य है शिव । यह निष्कर्ष शिव की चर्चा करते समय वहां बताई गई है । यह दृष्टि बौद्धों के ग्रहण करने योग्य है, या ग्रहण के अयोग्य है ? एक बात और है, जिस शून्य की चर्चा तन्त्र-ग्रन्थों में आई है, छः शून्यों की चर्चा है, उसमें पंचशून्य हेय है और एक शून्य ग्राह्य है । इस विषय में आपकी क्या धारणा है ?

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

उसमें यह देखना पड़ेगा कि यहां परभाव-शून्यता की कहा जा रहा है या स्वभाव-शून्यता को ? सबसे शून्य है, लेकिन स्वयं में यदि शून्य नहीं है, याने स्वतः उसका अस्तित्व है, तो वह शून्य भी हो जायेगा और रह भी जायेगा । इसमें नागार्जुन वाली परतः शून्यता तो है, लेकिन स्वतः शून्यता नहीं है । यह फर्क पड़ता है ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

अब हम इस चर्चा को यही समाप्त करते हैं । इस पूरे विचार-विमर्श में डॉ० वड्डुगु दोर्जे नेगी और प्रो० सुनीतिकुमार पाठक के विचारों को देखने से स्पष्ट होता है कि महायान की और मन्त्रनय की शून्यता की परिभाषा में अन्तर आ गया था । भारतीय दर्शनो का अध्ययन अभी इस दृष्टिकोण से हो नहीं पाया है, अतः विचार-विनिमय में कठिनाई उपस्थित हो यह स्वाभाविक है । कार्यशाला की सर्वांगपूर्णता के लिये अब एक विषय बचा है कि सूफी मत पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव है या नहीं ? मैं प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी से निवेदन करता हूँ कि वे सूफीमत के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करें ।

प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

बहुत संक्षेप में मैं अपनी बात कहूँगा । पहली बात तो यह है कि सूफीमत का प्रचार भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ और लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक यह बड़े विस्तार से चलता रहा । इसमें भी उत्थान-पतन के कई अवसर आये । प्रारम्भिक अवस्था में इस्लाम के प्रति जो उसकी प्रतिबद्धता थी, वह प्रतिबद्धता आगे चलकर और बढ़ी । फिर परिवर्तन हुआ । मन्सूर हल्लाज के ऊपर वेदान्त का प्रभाव पड़ा, ऐसा बताया जाता है और उसमें उन्होंने अपने को ही ब्रह्म या अल्लाह कहने की जो कोशिश की, उसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें सूली पर चढ़ा दिया गया । यह ९२२ ई० की घटना है । बाद में उन्हें जला दिया गया । समय ने पल्टा खाया और सूफीमत पुनः इस्लाम के अनुकूल हो गया । परिवर्तन फिर हुआ और उसने एक ऐसी स्थिति बनायी कि हम इस्लाम के विरोध में कुछ नहीं कहेंगे, लेकिन अपनी बात अवश्य कहेंगे । सत्रहवीं शताब्दी में औरंगजेब के समय में फिर परिवर्तन हुआ और उसने सूफीवाद का उन्मूलन करने की घोषणा कर दी । हिन्दी में लिखे गये प्रेमाख्यानो के अध्ययन से ये सारे परिवर्तन बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाते हैं ।

दूसरी बात यह है कि सूफीमत के ऊपर नाथ सम्प्रदाय का भी, जो काश्मीर के शैव मत से अच्छी तरह से सम्बद्ध है, प्रमुख प्रभाव माना जाता है। प्रायः सभी विद्वान् इसे मानते हैं। सूफी ग्रन्थों में, विशेष करके प्रेमाख्यान के ग्रन्थों में दो बातें विशेष रूप से दिखाई पड़ती हैं— पहली बात तो योग, यानी वह तान्त्रिक योग, जिसमें चक्रयोजना है। भारत की अत्यन्त प्राचीन तान्त्रिक साधना का सूफियों पर सीधा प्रभाव भी कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। दूसरी बात यह कि वह पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। प्रेमाख्यान-ग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, शरीर का जो वर्णन है, वह इसके अनुकूल है। "नौ पौड़ी पर दसम दुवारा। ता पर बाज राज घरियारा" ॥ लतायफी सिता का जो सिद्धान्त सूफियों में है, वह हमारे यहां के षट्चक्र से बहुत मिलता जुलता है। इस तरह से संक्षेप में यदि बात कही जाय और यदि नारदीय भक्तिसूत्र एवं उनके प्रेम के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो बहुत कम ऐसे अवसर आते हैं, जहां कि उनमें अन्तर दिखाई पड़ता हो।

सबसे बड़ी बात यह है कि सूफीमत कहीं भी इस्लाम के प्रति, मोहम्मद साहब के प्रति या उनके चार यारों के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा व्यक्त करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। इसलिये उनकी इस्लाम के प्रति जो प्रतिबद्धता है, वह कभी कम होती है, कभी बढ़ती है अवश्य, लेकिन वे हमेशा इस्लाम के प्रति अपनी श्रद्धा को अवश्य प्रकट करते हैं। कुछ विद्वानों ने बौद्ध धर्म का प्रभाव भी उनके ऊपर माना है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि नाथों का प्रभाव, जो एक तान्त्रिक सम्प्रदाय है अपने यहां का, इसका प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप में है। सहजयानी बौद्ध सिद्धों का कोई प्रभाव इन पर नहीं दिखायी पड़ता। नाथों के सबन्ध में कई स्थानों पर वे नाम भी लेते हैं गोरखनाथ इत्यादि का। ऐसी स्थिति में यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे यहां की जो तान्त्रिक साधना है, वह यहां नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से व्यक्त हुई है, उसका प्रभाव उनके ऊपर अवश्य पड़ा था। विस्तार से विवेचन करने के लिये बहुत से ग्रन्थ देखे जा सकते हैं। यहां तो संक्षेप में, संकेत रूप में मैंने अपनी बात कह दी। वस्तुतः सूफियों पर भारतीय प्रभाव वायजीद (८७३ ई०) के समय से ही शुरू हो गया था।

प्र० एन० एच० साम्तानी

सूफीमत के बारे में मेरा एक ही प्रश्न है कि मन्सूर अल-हल्लाज का जो नारा था, वह 'अनल हकक' क्या ब्रह्म से या शून्य से सम्बन्ध रखता है?

प्र० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

उनका कहना था कि "म ब्रह्म हूँ" या "म ईश्वर हूँ" या "म सत्य हूँ"। जायसी ने 'शून्य समाधि' का उल्लेख किया है, जो नागार्जुन के शून्य से पूरी तरह भिन्न है, नाथपन्थी है। 'शून्य' शब्द ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त हुआ है और आकाश के लिये भी, सहस्रार के लिये भी। सूफियों के ऊपर वेदान्त का प्रभाव है, उपनिषदों का प्रभाव है। कुछ लोग उन्हें अद्वैतवाद से भी सबद्ध मानते हैं।

प्र०० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

किस अद्वैतवाद से ?

प्र०० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

शांकर अद्वैतवाद से ।

प्र०० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

सुधारवादी पुनरुत्थान आन्दोलन का हमारे ऊपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि अद्वैतवाद का नाम आते ही हमें शांकर अद्वैतवाद के अतिरिक्त दूसरा कुछ सूझता नहीं है । श्रद्धेय कविराज जी का विचार था कि सूफीमत पर कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रभाव था । इस दृष्टि से अभी सूफीमत की विवेचना नहीं हुई है । अस्तु, इस चर्चा को अब हम पूरा करते हैं । मैं अध्यक्ष महोदय से निवेदन करना चाहता हूँ कि वे दक्षिण में "शिवज्ञानबोधम्" के माध्यम से जो शिवाद्वयवाद पनपा, इस पूरी गोष्ठी की प्रासंगिकता में उसका भी हमें थोड़ा परिचय दे दें ।

प्र०० एन० आर० भट्ट

Today there has been discussion on the Sanskrit *darśanas*, their culture and philosophy. How do you see the tantras culturally and philosophically ? This point has not been touched completely by anybody so far. Scholars have just given the information of the *darśana* of the tantra and have said about the influence of the *darśana* on the tantra. *Tantrasāstra* is a philosophy and it is for the people of India. Each language can develop its tantra in its own way. It is not told that it should be in Sanskrit itself, it should be in Hindi, it should be in Tamil etc. In every language it is developed in a different way. You know correctly that there are several crores of *mantras* in *tantrasāstra*. How do you count them ? How many *mantras* have you found so far ? Not even one crore, not even ten thousand. Where is the list of the *mantras* ? Seven crores of *mantras* have been counted, of these $3\frac{1}{2}$ crores are active and $3\frac{1}{2}$ crores are not. So $3\frac{1}{2}$ crores of *mantras*, you have to find in India. The same is also about ancient Indian philosophy. Somebody has talked about Lokāyatamata. True, it is also one tantra. It is one school of thought. But it is not accepted in *tantrasāstra*, because it is considered as a *nāstikamata*. There are two types of *mantras*, *nāstika* and *āstika*. So *tantrasāstra* belongs to the *āstika* sect. So Lokāyatamata has nothing to do with this *āstikamata* though they may have their own *mantras*, I mean, for obtaining something in this world.

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।

It is the Lokāyatamata that has insisted to get something in this world, and not the *tantrasāstra*. The aim of our *tantrasāstra* is to get relieved from *duhkha*, and to obtain the supreme bliss. Either it is *duhkhānta* or it would be without any *duhkha*, that is *śūnya*. *Śūnya* is also accepted in Vira-śaivas. Dharma is necessary for moral conduct, to make a man go on the proper path and *prema* is counted here as the love for the Lord. Abundant *śraddhā* or *bhakti* in the God is *prema*. This you can see in Tamil, in the Alvars who have *nāyaka-nāyikā-bhāva* with the God. The man makes himself *nāyikā* and makes the God *nāyaka*

and then sings after him. This is called *utkr̥ṣṭabhakti*. This is that *prema* but people always take the things in a bad way. Unfortunately it is not the view of the *tantrasāstra* at all. As I told before, we have to cut out these things from the *tantrasāstra*. The main aim of *tantrasāstra* is to attain the Bliss. And incidentally, there are things as were needed for *pāmara* people, what you call, I mean, uncultured people, who want to get something, want something, then these small things are used of course. It is not unnatural. When people beg, then give 10 paise, nothing wrong. But this is not your Dharma. This is not a Dharma. Because you make them beg more. And, about *sūnyatā* there has been a lot of discussion, I have not been able to understand the real conclusion of this *sūnyatā* so far. May be the *Viraśaiva sūnyatā* and this *sūnyatā* were almost the same. I mean you are beyond meditating something. You have Jaina Dharma etc. At the end you are nothing. The Śaivite ācāryas were dualistic. But after Śaṅkara, the Śaiva philosophy was influenced by the Advaita philosophy. In *Śivajñānabodha* and other works in Tamil, the Śaiva philosophy is called Advaita. But really it is not Advaita. Advaita means Ātman itself becomes Brahman: *aham brahmāsmi*. Nothing exists. All is *mithyā*. Here it is not that. Here it is the unity with Śiva. The whole becomes united with Śiva. But they are not one. It is like the eye and the sunlight. The eye is different, the sunlight is different. When they join together they are able to see something. This is Advaita. So this Jīvātman is able to visualise Śiva directly, which is called Śivādvaita, not limited one. Many people have an illusion that Advaita in Śiva-Advaita means Ātmā becomes one with Śiva. It is not possible, because in *tantrasāstra*, *upāsana* is the main thing. *Upāsana* can't be done, if *jñeya* and the person who makes the *jñāna* are not different. If you are one, there is no need of *dhyāna*. So through Īśvara meditation, you have to make a *pujā* and you have to be different from the one you are to worship. In the text it is not clear whether it is Advaita. But on one side, you see the Advaita, one person disappears in Śiva itself. In the text, they want to say Advaita, but they don't accept it as a full Advaita. This is Tamil philosophical position. And Vira-śaivas accept this *sūnyatā*, complete *sūnyatā*—so all the *dārśanas* are helping it. So, this is a *dārśanika pakṣa* and our culture also helps you in the Tantrasāstra culture, because, this is in our culture, in different languages in different peoples, in different ways. So, we have to make the study of the different things in their own way and not in our way. We can't force something of ourselves on some sect. We have to make a study of their sect and their principles, their rituals and their rites. Thank you.

समापन सत्र

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अध्यक्ष महोदय और उपस्थित विद्वद्वृन्द ! अब हम लोग इस सप्तदिवसीय कार्यशाला का समापन करने जा रहे हैं । हमारे आज के इस सत्र के मनोनीत अध्यक्ष इस विद्या के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० एन० आर० भट्ट ने आसन ग्रहण कर लिया है । अब मैं इस सप्तदिवसीय कार्यशाला के प्रतिवेदन को प्रस्तुत करने के लिये डॉ० बनारसीलाल को बुलाता हूँ । ये इस शोध-योजना के शोध अधिकारी हैं । डॉ० बनारसीलाल यह प्रतिवेदन प्रस्तुत करें, इसके पहले मैं आज के अध्यक्ष जी का सम्मान करने के लिये उनको माल्यार्पण करता हूँ ।

प्रतिवेदन

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान की दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के द्वारा दिनांक ६-१२ फरवरी १९९२ तक "भारतीय तन्त्रशास्त्र" विषय पर एक अखिल भारतीय कार्यशाला का आयोजन किया गया । इसमें वाराणसी के तीनों विश्वविद्यालयों, उच्च शिक्षा संस्थानों एवं महाविद्यालयों के विशेषज्ञ विद्वानों के अलावा इलाहाबाद, दिल्ली, राजस्थान, कर्णाटक, पाण्डिचेरी, महाराष्ट्र, बंगाल, मध्यप्रदेश एवं नेपाल के विशिष्ट विद्वानों ने भाग लिया । कार्यशाला—उद्घाटन एवं समापन सत्र के अलावा—कुल १२ सत्रों में सम्पन्न हुई । जिसमें बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त और वैष्णव तन्त्रों से सम्बद्ध मुद्रा, मण्डल, अभिषेक, दीक्षा, पीठ, बीजाक्षर, मन्त्र, न्यास, चण्डालीयोग आदि विभिन्न विषयों पर निबन्ध पढ़े गये और विद्वानों द्वारा उन पर गहन विचारविमर्श हुआ ।

दिनांक ६ फरवरी को पूर्वाह्न १० बजे प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० नथमल टाटिया ने कार्यशाला का उद्घाटन किया तथा शैव तन्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० एन० आर० भट्ट ने उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता की । तिब्बती एवं संस्कृत मंगलाचरण के बाद संस्थान के निदेशक प्रो० एस० रिन्योछे ने अतिथियों का स्वागत किया । शोध योजना के उपनिदेशक प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने विषय का उपस्थापन किया ।

कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए डॉ० नथमल टाटिया ने कहा कि तन्त्रविद्या भारत की उत्कृष्ट आध्यात्मिक विद्या है । इसने भारत के अलावा चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया एवं मध्य-एशिया के अनेक देशों को प्रभावित किया, जिसकी परम्परा आज भी उन देशों में जीवित रूप में देखी जा सकती है । दुःख का विषय यह है कि भारत में इस समय इसका हास देखा जा रहा है । उसकी गुह्यता भी इसमें एक कारण है । इस प्रकार के आयोजनों द्वारा उसे विद्वत्समाज में पुनः प्रतिष्ठित करना अत्यन्त प्रासंगिक है ।

उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रो० एन० आर० भट्ट ने कहा कि तन्त्र का व्यावहारिक पक्ष भारत में आज भी देखा जा सकता है । यहाँ की साधना, कर्मकाण्ड, पूजापद्धति आदि में तन्त्र का प्रभाव विद्यमान है । मन्दिरों

का निर्माण, उनकी पूजापद्धति एवं विशिष्ट उत्सव किसी न किसी तान्त्रिक शाखा के सिद्धान्तों के अनुसार परिचालित होते हैं ।

अपने स्वागत भाषण में संस्थान के निदेशक प्रो० एस० रिन्योछे ने कहा कि भारतीय तन्त्रपरम्परा बौद्ध धर्म के साथ-साथ सातवीं शताब्दी में तिब्बत में प्रविष्ट हुई । गुरु पद्मसम्भव ने तिब्बत पहुँच कर पच्चीस वज्रशिष्यों को अभिषिक्त किया और वज्रयान की साधना वहाँ प्रचलित की । तिब्बत में यह परम्परा आज भी जीवन्त है । प्रो० रिन्योछे ने कहा कि तन्त्रशास्त्र अत्यन्त गूढ़ है और उसकी साधना गोपनीय ढंग से की जाती है । कार्यशालाओं और सेमीनारों में सर्वसामान्य के समक्ष उसकी चर्चा करना सम्भव नहीं है । फिर भी उसके शैक्षिक पक्ष पर तथा उसके दार्शनिक पक्ष पर विचार-विमर्श किया जा सकता है ।

विषय का उपस्थापन करते हुए शोध योजना के उपनिदेशक प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने कार्यशाला के प्रयोजन पर प्रकाश डाला । उन्होंने कहा कि भारत की राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक अखण्डता की प्रतिष्ठा में तन्त्र का विशेष योगदान रहा है । जाति, वर्ण, भाषा और क्षेत्र आदि के संकीर्ण भेदों का निराकरण करते हुए एकीकृत समाज-व्यवस्था की स्थापना तन्त्रपरम्परा का उद्देश्य रहा है । भारतीय संस्कृति की आगम-परम्परा इस देश में अति प्राचीनकाल से प्रचलित रही है, जिसे श्रमणों की बौद्ध और जैन परम्पराओं ने अपनाया । इनकी साधना के कर्मकाण्डों में, देवी-देवताओं में अद्भुत साम्य देखा जाता है । इनके चक्र, मण्डल, अभिषेक, बीज-मन्त्र एवं योगचर्याओं में भी अधिक भेद नहीं है । पूरे भारत में व्याप्त पीठ-उपपीठों में भी साम्य देखा जा सकता है । इन समानताओं का अध्ययन कर सांस्कृतिक एकता को उजागर करना, कृत्रिम विभेदों को दूर करना और तन्त्र के अध्ययन को विकसित करना इस कार्यशाला के आयोजन का प्रयोजन है ।

कार्यशाला के उद्घाटन सत्र का संचालन संस्थान के रिसर्च प्रोफेसर डॉ० रामशंकर त्रिपाठी ने किया तथा सहायक प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र ने कृतज्ञता-ज्ञापन किया ।

ज्ञात है कि बौद्ध तन्त्र क्रिया, चर्या, योग एवं अनुत्तर नामक चार भेदों में विभक्त है । दिनांक ६ फरवरी को ही कार्यशाला के प्रथम सत्र में प्रो० सेम्पा दोर्जे ने क्रिया और चर्यातन्त्र पर अपना शोधपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया । विषय को स्पष्ट करते हुए प्रो० सेम्पा दोर्जे ने कहा कि बुद्धत्व प्राप्ति ही समस्त तन्त्रों का एकमात्र लक्ष्य है । तन्त्र का अभिप्राय अविच्छिन्न परम्परा से है तथा मन्त्र शब्द का अर्थ प्रज्ञा और उपाय की युगनद्धता है । फल की प्राप्ति में क्लेशों का मार्ग के रूप में उपयोग करना तन्त्रशास्त्र की विशेषता है । क्रियातन्त्र में ईक्षण के द्वारा और चर्यातन्त्र में हास के द्वारा राग का मार्गीकरण करके उससे क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों का प्रहाण करने वाली प्रज्ञा का उत्पाद करना और उसे महासुख के साथ समन्वित करना, इन दोनों तन्त्रों का उद्देश्य है । प्रो० सेम्पा दोर्जे ने क्रियातन्त्र के तथागत आदि तीन फलों, भूमि-शोधन से लेकर

अभिषेक पर्यन्त सभी विधिविधानों एवं सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तरतन्त्र आदि क्रियातन्त्र-प्रतिपादक तन्त्र-ग्रन्थों का परिचय दिया । उन्होंने कहा कि आन्तरिक लोक और बाह्य क्रिया अनुष्ठानों में जिस तन्त्र में बाह्यानुष्ठानों पर अधिक बल दिया जाता है, वह क्रियातन्त्र, तथा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों साधना-प्रकारों पर जिसमें बराबर-बराबर बल दिया जाता है, वह चर्यातन्त्र है । हास के द्वारा राग का मार्ग रूप में उपयोग कर सुखसहगत प्रज्ञा द्वारा आवरणों के प्रहाण का विधिविधान जिसमें प्रतिपादित है, वह चर्यातन्त्र कहलाता है । इसमें भी तथागतकुल, पद्मकुल एवं वज्रकुल तीन फल पाये जाते हैं । वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र, हयग्रीवमहातन्त्र आदि इस तन्त्र के मुख्य प्रतिपादक ग्रन्थ हैं । उन्होंने चर्यातन्त्र की दृष्टि से संवर, समय, अभिषेक, मण्डल एवं सन्निमित्त-अनिमित्त आदि योगों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला ।

दिनांक ६ फरवरी को ही द्वितीय सत्र में संस्थान के प्राध्यापक डॉ० वड्डहुग् दोर्जे नेगी ने पितृतन्त्र की परम्परा और साधना विषय पर अपने गम्भीर और विस्तृत निबन्ध का पाठ किया । अद्वयज्ञान की प्राप्ति और युगनद्ध अवस्था को प्राप्त करना तन्त्रशास्त्र का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने वज्रयान, मन्त्रयान, फलयान, उपाययान आदि को पर्यायवाची प्रतिपादित किया । उन्होंने कहा कि अनुत्तरतन्त्र के तीन भेद किये जाते हैं । यथा— पितृ, मातृ एवं अद्वयतन्त्र ।

पितृतन्त्र को उपायतन्त्र और मातृतन्त्र को प्रज्ञातन्त्र भी कहते हैं । मुख और भुजाओं की समानता, असमानता, आसन और सिंहासनो की विशेषता, मुद्राओं की विशेषता के आधार पर मातृतन्त्र और पितृतन्त्र दोनों के लक्षणों को प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि नाडी-तिलक का जिसमें प्राधान्य हो वह मातृतन्त्र तथा जिसमें वायु का प्राधान्य हो वह पितृतन्त्र कहलाता है । पांच स्कन्धों को विशुद्ध कर पाँच तथागतों में परिणत करने की प्रक्रिया पितृतन्त्र की तथा पांच धातुओं को परिशुद्ध कर पाँच देवियों में परिणत करने की मातृतन्त्र की विशेषता है । निष्पन्नक्रम की साधना के भेद के आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया कि पितृतन्त्र में पंचक्रम की साधना का विशेष महत्त्व होता है तथा चार मुद्राओं द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना करना मातृतन्त्र की विशेषता है । पितृतन्त्र के आधार पर अभिषेक, वज्रदेह, नाडीत्रय, वायु, तिलकमण्डल, मुद्रा आदि का विभिन्न शास्त्रों से उद्धरण देकर प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया । उन्होंने कहा कि गुह्यसमाज इसका मूलतन्त्र तथा वज्रमाला, सन्धिव्याकरण, वज्रज्ञानसमुच्चय, चतुर्देवीपरिपृच्छा आदि इसके व्याख्यातन्त्र हैं ।

दिनांक ७ फरवरी को पूर्वाह्न के सत्र में शोध योजना के शोध अधिकारी डॉ० ठाकुरसेन नेगी ने पुष्कल प्रमाणों के आधार पर बौद्ध तन्त्र की मातृतन्त्र शाखा पर विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की । उन्होंने वायु, नाडी, बिन्दु आदि गूढ़ विषयों का विवेचन करते हुए वज्रदेह की सिद्धि पर विशेष प्रकाश डाला । इसी सत्र में योजना के शोध अधिकारी डॉ० बनारसी लाल ने बौद्ध तन्त्रों के प्रमुख विभाग अद्वयतन्त्र का परिचय देते हुए कालचक्रतन्त्र के आधार पर अभिषेक, मण्डल, कुल, षडंग योग एवं पीठों का सप्रमाण प्रतिपादन किया ।

अपराहण के चतुर्थ सत्र में जैन तन्त्र चर्चा का प्रमुख विषय रहा । उज्जैन के डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी ने विभिन्न ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, यन्त्र, सकलीकरण आदि विभिन्न साधना-पद्धतियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया । उन्होंने मुद्रा, पीठ, न्यास, बाह्याभ्यन्तर पीठ, नाडी, चक्र, प्राणायाम, षडंग योग एवं कुण्डलनी योग की चर्चा की । इसी सत्र में दो और निबन्ध पढ़े गये, जिनमें एक युवाचार्य महाप्रज्ञ का "जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण" शीर्षक तथा दूसरा साध्वी डॉ० सुरेखाश्री का "मन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नमस्कार मन्त्र" नामक निबन्ध था । इनमें जैन तन्त्र की परम्परा के अनुसार सकलीकरण और नमस्कार मन्त्र से सम्बद्ध गूढ़ विषयों का निरूपण किया गया था ।

दिनांक ८ फरवरी के पूर्वाहण के सत्र में दो निबन्ध पढ़े गये, जिनका सम्बन्ध शैव तन्त्र से था । श्रीनगर के प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित का "काश्मीर शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा" शीर्षक से शोधपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत हुआ तथा कर्णाटक के प्रो० चन्द्रशेखर कपाले ने दक्षिण भारत की वीरशैव सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार विषय का पुखानुपुख विवेचन किया ।

अपराहण के सत्र में तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् पाण्डिचेरी के प्रो० एन० आर० भट्ट ने सिद्धान्तशैव शाखा के परिप्रेक्ष्य में शैव मन्दिर और उसकी पूजापद्धति के प्रकारों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला ।

दिनांक ९ फरवरी के पूर्वाहण के सत्र में दो निबन्ध प्रस्तुत हुए, जिनका विषय वैष्णव तन्त्र था । डॉ० अशोककुमार कालिया ने वैष्णव तन्त्र की पांचरात्र शाखा के अनुसार प्रमाणों के आधार पर दीक्षा, मण्डल, गुरु-शिष्य के लक्षण आदि विषयों का विस्तृत व्याख्यान किया । वैष्णव तन्त्र की वैखानस शाखा के आधार पर प्रो० राघवप्रसाद चौधरी ने दीक्षा, अभिषेक, मण्डल, मन्त्र आदि विभिन्न तान्त्रिक विषयों का सप्रमाण विवेचन प्रस्तुत किया । डॉ० चौधरी स्वयं उपस्थित नहीं हुए ।

अपराहण के सत्र में डॉ० प्रभाकर आपटे ने पौष्करसहिता के आधार पर मण्डल की आकृतियों का सप्रमाण परिचय दिया । इसी सत्र में शान्तिनिकेतन के प्रो० डॉ० सुनीतिकुमार पाठक ने बौद्ध तन्त्र के प्रमुख विभाग योगतन्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की अनेक ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की ।

दिनांक १० फरवरी के नवम सत्र में इलाहाबाद के डॉ० किशोरनाथ झा ने स्मार्त तन्त्र के परिप्रेक्ष्य में दस महाविद्याओं के स्वरूप, पूजाविधि एवं साधना के विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला । इसी सत्र में शोध योजना के उपनिदेशक प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने शैव तन्त्र की अल्प परिचित पाशुपत शाखा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु लकुलीश द्वारा प्रवर्तित पाशुपत मत के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं । उनके आधार पर प्रो० द्विवेदी ने गुरु, कुल, कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त नामक पञ्चार्थ तथा दीक्षा, मन्त्र, चर्चा, योग, निष्ठा आदि विषयों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया ।

अपराहण के सत्र में वाराणसी के प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में "निगम और आगम तथा उनकी रचनाएँ" विषय का विवेचन प्रस्तुत किया । भारतीय दृष्टि के आधार पर उन्होंने निगम और आगम की एकरूपता पर विशेष बल दिया ।

इसी सत्र में प्रो० जे० सी० सिकंदर का जैन तन्त्र की साधना-पद्धति पर एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत हुआ । प्रो० सिकंदर स्वयं उपस्थित नहीं हो सके । इसलिये संस्थान के सम्पादक श्री लोसंग नोरबु शास्त्री ने उसका वाचन किया । निबन्ध के अन्त में प्रो० एम० ए० ढाकी एवं प्रो० सुनीतिकुमार पाठक आदि विद्वानों ने उनके जीवन का परिचय देते हुए जैन तन्त्र की साधनाविधि पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया ।

दिनांक ११ फरवरी को कोई निबन्ध प्रस्तुत नहीं किया गया, किन्तु पूर्वाहण के सत्र में भारतीय तन्त्रों के प्रायोगिक पक्ष पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार-विमर्श किया । डॉ० जी० सी० पाण्डेय ने ऐतिहासिक दृष्टि से तन्त्रों के कालनिर्णय पर विशिष्ट विवेचना प्रस्तुत की, जिस पर अन्य विद्वानों ने अनेक पृच्छाएँ एवं अपने सुझाव प्रस्तुत किये । विचार-विमर्श करने वाले विद्वानों में प्रो० लक्ष्मोनारायण तिवारी, प्रो० सेम्पा दोर्जे, डॉ० एस० एस० बहलकर, डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी आदि प्रमुख थे । दोनों सत्रों की अध्यक्षता करते हुए प्रो० एन० आर० भट्ट ने तन्त्रों के प्रायोगिक और दार्शनिक पक्षों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया ।

इस प्रकार इस कार्यशाला में कुल १६ निबन्धों का पाठ हुआ, जिनमें से चार निबन्धों को लेखकों की अनुपस्थिति में पढ़ा गया ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

कार्यशाला का प्रतिवेदन हमने डॉ० बनारसीलाल से सुना । यह संभव है कि इसमें बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें न आ सकी हों । दूसरे यहाँ जो चर्चा हुई और चर्चाओं में जो अति महत्त्वपूर्ण विषय थे, जिन पर काफी अच्छा विचार-विमर्श, गंभीर विचार-विमर्श हुआ, उसकी भी चर्चा इसमें नहीं आ सकी हो, लेकिन सारी कार्यवाही टेप की गयी है । थोड़े समय में इससे अधिक विवरण बना पाना मुश्किल भी था । इसका विस्तृत विवरण प्रो० द्विवेदी स्वयं टेप के आधार पर तैयार करेंगे और इसका प्रकाशन भी होगा । फिर भी यदि कुछ प्रमुख बात इसमें छूट गयी हो, तो इसमें जोड़ने की और कोई गलत बात इसमें लिख गयी हो तो उसे हटाने की अभी गुंजाइश है । अब मैं उपस्थित विद्वानों से इस कार्यशाला की समीक्षा करने का निवेदन करता हूँ ।

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के अन्तर्गत तन्त्रशास्त्र पर विगत अनेक वर्षों से कार्य हो रहा है । कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और नियमित रूप से शोधपत्रिका 'धीः' पाण्मासिक का प्रकाशन हो रहा है, जिसके अब तक १२ अंक प्रकाशित हो चुके हैं । यहाँ पर जो भी कार्यशाला होती है, निश्चित रूप से पुस्तकाकार रूप में

उसका प्रकाशन होता है । पहले संपादन-कला, अनुवाद-कला आदि पर जो कार्यशाला हुई थी, उसका विवरण "संपादन के सिद्धान्त और उपादान" शीर्षक ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुका है । तन्त्रशास्त्र, जैसा कि हम सभी जानते हैं, भारतवर्ष में अल्प परिचित सा हो गया है । मध्ययुग में इसके खिलाफ बड़ा आन्दोलन चला । इसे समाज की व्यवस्था का विरोधी बताया गया । इस पर दुराचरण और पाखण्ड का आरोप किया गया और कई परम्पराओं ने इसका विरोध किया । अनेक कारणों ने मिलकर इस शास्त्र को दुर्लभ बना दिया, अपरिचित बना दिया और इसके विरोध में कई भ्रान्त धारणाएँ पैदा कर दी गई । वस्तुतः तन्त्रशास्त्र वैसा है नहीं । जिसे लोग तन्त्र समझते हैं, वह तन्त्र है ही नहीं । आज झाड़ू-फूक और मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि की जो क्रियाएँ हैं, उन्हीं को तन्त्र समझा जाता है । उसके गंभीर दार्शनिक पक्ष को, परम तत्त्व की, शिवत्व या बुद्धत्व की प्राप्ति के तीव्र उपायों को वे जानते नहीं हैं । मैं यह नहीं कहता कि इसमें दूसरे लोगों का ही संपूर्ण हाथ है, खुद तन्त्र-विद्या में, तन्त्र की प्रणाली में अयोग्य, अनधिकारी लोगों का प्रवेश हो जाने से भी इन सब बातों को, इन भ्रमों को फैलने का अवसर मिला है, लेकिन इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

तन्त्रविद्या बड़ी महनीय विद्या है, आध्यात्मिक विद्या है, शास्त्र है । इसमें गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का बहुत गम्भीरता से और विस्तार से प्रतिपादन है । भारतीय एकता और अखण्डता के लिये इस विद्या का फिर से उत्थान हो, यह आवश्यक समझा जाने लगा है । जब हम अपनी सारी विस्मृत प्रणालियों को, स्वतन्त्र नागरिक के रूप में अपनी संस्कृति को फिर से उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं, तब तन्त्रविद्या जैसी महत्त्वपूर्ण विद्या के विकास के लिये प्रयास करें, यह अत्यन्त उचित एवं प्रासंगिक भी है । बौद्ध तन्त्रों के अध्ययन-प्रकाशन के लिये स्थापित इस योजना इकाई में प्रमुख रूप से बौद्ध तन्त्रों का ही संपादन-प्रकाशन होता है । किन्तु कोई भी अध्ययन, भारतवर्ष की किसी भी विद्या का अध्ययन, तब तक पूर्ण नहीं माना जाता, जब तक कि उसको समस्वभाव वाली अन्य विद्याओं के साथ अध्ययन करके विषय प्रस्तुत नहीं किया जाता । ऐसी स्थिति में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना होने पर भी यह वस्तुतः भारतीय तन्त्रशास्त्र पर कार्य कर रही है, इसमें प्रायः सभी तन्त्रों का अध्ययन होता है । इसी अध्ययन को आगे बढ़ाने, गंभीर रूप से उसका प्रतिपादन करने और विद्वानों में उसका परिचय बढ़ाने के लिये हम हर एक साल के अन्तराल पर एक कार्यशाला या सेमीनार का आयोजन करते हैं ।

इसी प्रसंग में इस बार तन्त्रशास्त्र पर, चूँकि बहुत विस्तृत है, उसके सभी विषयों पर एक साथ एक कार्यशाला में विचार नहीं हो सकता, इसलिये उसके कुछ विषयों पर, जैसे मन्त्र, मुद्रा, अभिषेक, मण्डल, चक्र आदि के ऊपर भारतीय तन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करना इस कार्यशाला का प्रयोजन रहा है और अवशिष्ट बचे हुए विषयों पर भविष्य में भी कार्यशालाओं का आयोजन करने का संकल्प है । इस कार्यशाला में आपने कृपा कर भाग लिया, अपने विचारों से हमें लाभान्वित किया और इसका आपने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पूरा

निरीक्षण किया है । हमने कार्यशाला के आयोजन की जो पद्धति अपनायी है, उस पद्धति में क्या कुछ सुधार किया जा सकता है या यह पद्धति ठीक है ? इस पर और इसमें क्या कमी है, इस पर यदि आप अपने सुझाव देंगे, तो हमें आगे की कार्यशालाओं को आयोजित करने में और उसकी पद्धति निश्चित करने में सहायता मिलेगी ।

एक पद्धति हम लोगों ने और भी अपनायी थी, जिसमें हम हर एक सत्र में एक ही वक्ता का निबन्ध प्रस्तुत करते हैं और उसकी समालोचना के लिये अन्य विद्वान् के पास पहले से ही वह निबन्ध भेज दिया जाता है । वह उसके ऊपर अपनी आलोचना प्रस्तुत करता है और अन्य जितने विद्वान् सम्मिलित होते हैं, वे केवल उस पर विचार-विमर्श करते हैं, शोधप्रबन्ध लिख कर नहीं लाते ! उन सबका टेप होता है और बाद में उनका प्रकाशन होता है । इस तरह की विचारगोष्ठियों में अधिक निबन्ध होने पर और निबन्धों की भरमार हो जाने पर पूरे निबन्ध का वाचन असंभव हो जाता है । फिर कहा जाता है कि अपने प्रमुख विचार आप पांच मिनट में प्रस्तुत कीजिये, सात मिनट में प्रस्तुत कीजिये और अन्त में यह होता है कि दो-दो मिनट में आप अपनी बात कहिये । ऐसे में विचार-विमर्श का तो कोई अवसर ही नहीं रह जाता ।

ऐसी स्थिति में एक प्रमुख पत्र एक घण्टे का हो और उस पर दो घण्टे विचार विमर्श हो । एक आलोचक लिखित रूप में उसके आलोचना करे और बाकी लोग जो सुझाव दें और आलोचना करें उनका टेप हो जाय और बाद में उनका प्रकाशन हो जाय, तो यह ज्यादा लाभदायक होता है, किन्तु उसमें दिक्कत यह होती है कि हमारे विद्वान् समय से निबन्ध प्रेषित नहीं करते । इस पद्धति से कार्यशाला या सेमीनार आयोजन करने के लिये कम से कम एक डेढ़ महीना पहिले निबन्ध आ जाना चाहिये, जिससे कि उसकी प्रति सम्मिलित होने वाले सभी विद्वानों के पास पहले से पहुँच जाय, जिससे कि वे उसका अध्ययन कर अपने सुझाव अपने साथ लिखकर ले आवें । होता यह है कि बार बार आग्रह करने पर भी बहुत से विद्वान् तो अपने निबन्ध भी साथ ही लेकर आते हैं, पहले भेजने की बात तो दूर है । इस प्रकार की कार्यशाला का भी चलाना बड़ा मुश्किल हो रहा है ।

अब मैं विद्वानों से आग्रह करूँगा कि वे इस कार्यशाला की समीक्षा करें, इसकी कमी और अच्छाई की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करें और बतावे कि भविष्य की कार्यशालाओं की पद्धति क्या हो ? यह विधि ठीक है या कोई दूसरी विधि अपनानी चाहिये, इत्यादि बातों पर वे अपने विचार दें । इसके लिए मैं सबसे पहले इस शोध योजना के उपनिदेशक प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी को निमन्त्रित करता हूँ कि वे अपने सुझाव प्रस्तुत करें ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

अध्यक्ष महोदय और उपस्थित विद्वद्वृन्द ! मैं सुझाव तो प्रस्तुत करने नहीं जा रहा हूँ, किन्तु हम लोगों को इससे क्या लाभ हुआ, इस पर हमारी क्या प्रतिक्रिया है ? यही संक्षेप में मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ ।

पहली बात तो हम लोगों को ज्ञात हुई वह यह है कि क्रिया, चर्या और योग— इनकी सर्वत्र एक सी प्रकृति है । बौद्ध, शैव, शाक्त आदि तन्त्रों में इनमें कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता । इतना ही अन्तर है कि बौद्ध क्रिया, चर्या और योग तन्त्रों के ऊपर वैभाषिक या सौत्रान्तिक दर्शन का प्रभाव हो सकता है और अन्य तन्त्रों पर अपने-अपने दर्शनों का । पर वह अभी बहुत चर्चित नहीं हुआ है । उसके ऊपर हम भविष्य में विचार कर सकते हैं ।

विद्या के रूप में जो एक पाद शैव या वैष्णव तन्त्रों में है, उसका बौद्ध तन्त्रों में उल्लेख नहीं है । उसके स्थान पर अनुत्तरतन्त्र की चर्चा है । इस अनुत्तर तन्त्र के तीन विभाग हैं— पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र । मैं समझता हूँ, इनकी प्रकृति और कौल तन्त्रों की प्रकृति में बहुत समानता है । इन त्रिविध तन्त्रों के विषय में जो कुछ मैंने समझा, उससे ऐसा लगता है कि तन्त्र की इन तीन विधाओं में एक चण्डाली योग पर, दूसरी षडंग योग पर और तीसरी प्राणायाम योग (कालचक्र) पर आधृत है । ये तीनों तन्त्र अद्वयवादी हैं । इसमें विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन का तो सहारा लिया ही गया है, साथ ही इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया है । केवल इतना ही नहीं, विज्ञानवाद और शून्यवाद का अन्य तन्त्रों पर भी, शैव और शाक्त तन्त्रों पर भी प्रभाव पड़ा है । साथ ही इनमें परस्पर समानता होते हुए भी अपनी भी कुछ विशेषताएँ हैं, कुछ विशेष शब्दावलियाँ हैं । यह भी कि इस कार्यशाला के लिये जिन विषयों को हम लोगों ने निर्धारित किया था, उनकी चर्चा प्रायः सभी तन्त्रों में अपनी-अपनी पद्धति से की गई है ।

संस्कृति की चर्चा यहाँ हुई । हमारे समान्य पाण्डेय जी ने कहा कि स्त्री और शूद्र को वेद में भी अधिकार प्राप्त था । हम क्या थे, इसके ऊपर विचार न करके, क्या हैं ? इस पर जब विचार करते हैं, तो वैदिक और तान्त्रिक संस्कृति की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है । इसके आधार पर हमको यह निर्णय करना है कि हम वैदिक संस्कृति से क्या ले सकते हैं और तान्त्रिक संस्कृति से क्या ले सकते हैं ।

संस्कृति पर जो चर्चा चली, उसमें एक विद्वान् ने यह कहा कि आप एक हजार वर्ष पहले की संस्कृति की चर्चा कर रहे हैं । यह तो सही है कि एक हजार वर्ष पहले की चर्चा कर रहे हैं । इस पर मेरा मत यह है कि इधर के एक हजार वर्षों में सांस्कृतिक दृष्टि से यहाँ कोई विशेष विचार हुआ ही नहीं । जो कुछ हमारे पास था, उसका विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद हुआ । अब कुछ उनका जो स्वानुभव है, जैसे कि मराठी सन्त ज्ञानेश्वर का इस विषय पर अपना ग्रन्थ है । इस तरह की सामग्री को हम अपने अनुसंधान का विषय बना सकते हैं । इन सभी सन्तों, सिद्धों, नाथों और आचार्यों का जो प्रेरणास्रोत तान्त्रिक साहित्य था, वह एक हजार वर्ष पहले का होने पर भी आज के लिये भी उतना ही उपयोगी है । मेरा यह निश्चित मत है कि आज भारत की जो समस्याएँ हैं, खास करके जो सांस्कृतिक समस्याएँ हैं, उनका समाधान हम

उसी वाङ्मय के सहारे कर सकते हैं; जातिग्रह से मुक्त समानता पर आधृत संस्कृति का हम विकास कर सकते हैं ।

तान्त्रिक दर्शन की भी यहां चर्चा हुई है । तान्त्रिक दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि विद्वानों के शास्त्रार्थ वाले दर्शन का जो स्वरूप है, उससे यह मुक्त है और सामान्य जनता के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही यहां दिया गया है । विद्यापाद में जो ज्ञान उपदिष्ट है, या योगपाद में जो योग उपदिष्ट है, अन्य भी जो विभिन्न तन्त्रों की शाखाएं हैं, उनमें जितना दर्शन दिखलाया है, वह सामान्य जनता की भी समझ में आ सके, इसका मुख्य आधार यही माना गया है । सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि वहां दूसरे के मत के खण्डन में विशेष रुचि नहीं ली गई, केवल अपने मत की प्रतिष्ठा तक ही वे सीमित रहे हैं ।

संस्कृति के संबन्ध में ही मैं एक बात और कह देना चाहता हूँ कि एक ही जन्म में मुक्ति की कल चर्चा चली थी । एक ही जन्म में मुक्ति पाने वाले आजकल भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में फैले हुए हैं, पर उनके यहां जो विधान हैं, वह यह है कि एक निश्चित समय आवेगा, तब पुण्य और पाप का निर्णय होगा । तन्त्रशास्त्र में जो एक जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त है, मनुष्य जब जीवन्मुक्त अवस्था में पहुंच जायगा, सिद्धावस्था में जब पहुंच जायगा, तो वह जीव पुण्य और पाप से भी अपने आप मुक्त हो जायगा, इसके लिये उसे किसी ईश्वर की अपेक्षा नहीं है । मैं समझता हूँ कि इसके ऊपर भी यदि आप ध्यान देंगे, तो आप देखेंगे कि तान्त्रिक साहित्य और दर्शन के एक हजार वर्ष प्राचीन होने पर भी आज भी अन्य विचारों की अपेक्षा इसकी प्रासंगिकता अधिक है ।

इस कार्यशाला की जो एक कमी खटकी, वह यह है कि पहली वाली कार्यशाला में हमारे निदेशक महोदय प्रो० रिन्योछे जी का पूरा योगदान रहा । उक्त कार्यशाला के विवरण को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायगा कि बीच-बीच में उन्होंने उस कार्यशाला को कितना लाभान्वित किया था । इस कार्यशाला में हम उनके विचारों से प्रायः वंचित ही रह गये । दूसरा उस कार्यशाला में प्रो० अनन्तलाल ठाकुर की भी उपस्थिति थी और वे भी बीच-बीच में हमारे सामने एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते थे । मैं मान सकता हूँ कि उनकी पूर्ति तो हमारे बीच उपस्थित भट्ट महोदय ने पूरी की है, किन्तु वह कमी जो निदेशक महोदय के न रहने से हुई, उसकी हम क्षतिपूर्ति नहीं कर पाये हैं ।

अन्त में मैं एक श्लोक आपको सुनाता हूँ, जो कि तान्त्रिक और पौराणिक संस्कृति की सर्वग्राहकता को स्पष्ट करता है । वह श्लोक है—

ज्ञानस्वरूपमखिल जगदेतदबुद्ध्यः ।

अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसप्लवे ॥

मैं समझता हूँ कि "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" को यदि हम "विज्ञानरूपमखिलम्" कर दे, तो यह विज्ञानवाद का प्रतिपादक हो जायगा । यह श्लोक विष्णुपुराण

का है । अन्त में मैं इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि भविष्य में आप लोग इन तथ्यों को अपने विचारों का विषय बनावें तो अच्छा होगा । अपने वक्तव्य को पूरा करने से पहले मैं इस कार्यशाला में सहयोग देने वाले सभी विद्वानों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

प्रो० द्विवेदी ने आगम और निगम की विभाजक बातों को प्रदर्शित किया और यह कहा कि मुक्ति में सभी का समान अधिकार होने और न होने के आधार पर हम इनका विभाजन कर सकते हैं । मेरा ख्याल है कि और भी बहुत सी इनकी विभाजक बातें कही जा सकती हैं, उनमें प्रमुख रूप से गुरु को प्रमाण मानना, यह भी एक विभाजक सिद्धान्त हो सकता है, क्योंकि शास्त्र और गुरु में विरोध होने पर तन्त्र-परम्परा में गुरु को ही प्रमाण माना जाता है, शास्त्र को नहीं । इसी क्रम में एक दूसरा पक्ष है कि इसमें स्वानुभव को प्रमुखता दी जाती है और शास्त्र की बातों को उतनी प्रमुखता नहीं दी जाती । इसलिये यह भी विभाजन का एक प्रमुख कारक तत्त्व है । निगम की दृष्टि से मोक्ष और परलोक जैसे विषयों में व्यक्ति का प्रामाण्य माना ही नहीं जा सकता । वह कितना ही बड़ा विद्वान् और साधक हो—“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ” भगवद्गीता का यह वचन इसी बात की पुष्टि करता है । वेद का प्रामाण्य इसीलिये है कि वह ऐसे परोक्ष विषयों के बारे में पथ-प्रदर्शन कर सकता है । पुरुष कभी भी राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकता, जिससे कि उसे प्रमाण माना जाय । इसीलिये शास्त्र को या वेद को प्रमाण मानने वालों के द्वारा सर्वज्ञ की प्रमाणता का दर्शनो में खण्डन किया गया है ।

तन्त्रशास्त्र में यह बहस हमेशा से है कि भाषा का आग्रह, भाषा की शुद्धि का आग्रह, जाति की शुद्धि का आग्रह, वर्ण की शुद्धि का आग्रह, क्षेत्र की शुद्धि का आग्रह, ये सब आग्रह मनुष्य को विभाजित करते हैं और संस्कृति की गिरावट के कारण होते हैं । इन सिद्धान्तों को आगम साहित्य में कभी भी प्रमुखता नहीं दी गई । इसलिये द्विवेदी जी का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि भारत की अखण्डता, राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक एकता के पुनरुत्थान के लिये तन्त्र का अध्ययन और उसके प्रभाव क्षेत्र का विस्तार आवश्यक है । एक हजार साल पुराना होने से कुछ नहीं होता । क्या एक हजार साल में मनुष्य भीतर से बदल गया है ? क्या उसने वर्ण-आग्रह छोड़ दिया है, क्या उसने भाषा की पवित्रता का आग्रह छोड़ दिया है, उसने क्या क्षेत्र-विशुद्धि का आग्रह छोड़ दिया है, या उसके अन्दर से राग-द्वेष-मोह कम हो गये हैं, क्या उसने स्वार्थ के लिये एक दूसरे को नीचा दिखाना, अपमानित करना और दूसरे को नुकसान पहुंचाना छोड़ दिया है ? बाहर के लिवास बदल जाने से और भौतिक समृद्धि के हो जाने से यह सब नहीं होता । होगा तब, जब आदमी भीतर से बदले । भीतर के इन आग्रहों के कारण आदमी बदलता नहीं है और तन्त्र ने भीतर से आदमी को बदलकर एक नये मानव और उस मानव के माध्यम से नये समाज के निर्माण का जो प्रयास किया है, वह सामर्थ्य उसमें आज भी

है । इसलिये उसके लिये प्रयास करना नितान्त समीचीन और प्रासंगिक है । अब मैं दूसरे विद्वान् वक्ता डॉ० बहुलकर जी को आमन्त्रित करता हूँ कि वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

अनादि ह्यानवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्तये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे

परमादरणीय प्रो० एन० आर० भट्ट महोदय, आदरणीय द्विवेदी जी, उपस्थित ज्येष्ठ विद्वज्जन और मित्रों !

भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सप्तदिवसीय कार्यशाला का आज समापन हो रहा है । इन सात दिनों में जो कुछ विचार-विमर्श यहां हुआ, उस पर मेरा कहना यह है कि यह कार्यशाला अतीव लाभप्रद हुई है । यहां सम्मिलित हुए विद्वान् भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों से आये हैं, अपने अपने प्रस्थानों, अपने अपने शास्त्रों के अधिकारी विद्वान् हैं । उनके निबन्ध को जब हम सुनते थे, तो अति आश्चर्य होता था कि इस कार्यशाला के संयोजक प० द्विवेदी जी ने कहां कहां से खोज कर इन विद्वदरत्नों को यहां इकट्ठा किया । मेरी ऐसी कल्पना थी कि भारत में तन्त्रशास्त्र के विषय के ज्यादा अधिकारी विद्वान् नहीं होंगे, क्योंकि ये जो विद्वान् हैं, वे कभी कभी लिखते हैं । ज्यादा लिखते हैं, ऐसा नहीं है । आजकल ऐसा है कि कुछ लोग थोड़ा सा पढ़ कर अधिकाधिक लिख लेते हैं और जो अधिकाधिक लिखते हैं, वे विद्वान् कहलाते हैं । जैसे कि पतंजलि ने कहा है—“वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति” । थोड़ा सा पढ़ कर वे वक्ता बन जाते हैं । परम्परा के विद्वान् कई हैं, जो कुछ ज्यादा लिखते नहीं, लेकिन बहुत जानते हैं । उनके विचारों का श्रवण करना अति लाभदायक है । इस कार्यशाला में विभिन्न सम्प्रदायों के विचार प्रस्तुत किये गये । ऐसी कार्यशाला मैंने देखी नहीं । तिब्बती संस्थान की यह विशेषता मुझे प्रतीत होती है । मैं यहां दो-तीन कार्यशालाओं में सम्मिलित हुआ हूँ । यहां सुबह से शाम तक शास्त्र चर्चा अति गम्भीरता से होती है । सम्भवतः इस कार्यशाला के संयोजक और निदेशक गम्भीरता से चर्चा करने वालों को ही निमन्त्रित करते हैं ।

त्रिपाठी जी ने ऐसा कहा कि एक सत्र में एक ही निबन्ध पढ़ने का भी कोई विचार था, लेकिन विद्वान् समय पर निबन्ध देते नहीं । दोष विद्वानों का है, उसमें मैं भी सम्मिलित हूँ । हम थोड़ा सुधर जाय, यह अच्छा है । लेकिन संयोजक को मैं ऐसा कहूंगा, आपको इसी तरह से आदर्श रूप से कार्यशाला का संयोजन करना अधिक उचित होगा, जिसमें एक सत्र में एक निबन्ध पर, एक प्रबन्ध पर विचार-विमर्श हो । आपको कार्यशाला का आयोजन करना है, तो किस वर्ष में किस महीने में करना है ? इस तिथि का निश्चय अभी मत करें । एक वर्ष पहले विद्वानों को आप आमन्त्रण पत्र भेजें, छः महीने की अवधि दी जाय और छः महीने तक उनका निबन्ध न आवे, तो उनका नाम काट डाले, क्योंकि दूसरे कोई रहेंगे, वे छः महीने में निबन्ध

लिख सकेंगे । ऐसा करने पर अच्छी तरह से निबन्ध आ जायेंगे । समय तो आपने बहुत दिया था, फिर भी छः महीने कम प्रतीत होता है । अतः छः महीने का अवकाश चाहिये । किसी की कुछ कठिनाइयाँ हों, तो दूसरे किसी को कहा जाय ।

इस कार्यशाला में जो भी निबन्ध प्रस्तुत हुए, वे बहुत अच्छे थे, महत्त्वपूर्ण थे और इस विषय में इतना विचार-विमर्श हुआ, इतनी महत्त्वपूर्ण बातें यहां बताई गईं कि हम सभी बातों को ग्रहण नहीं कर सके । मुझे संक्षेपशायरीकरकार की उक्ति का स्मरण आता है । वह गुरु के विषय में है—

गुरुचरणसरोजसन्निधानाद् वयमपि तस्य गुणैकलेशभाजः ।

अपि महति जलार्णवे निमग्नाः सलिलमुपाददते जलं हि मीनाः ॥

मछलियाँ होती हैं सागर में, इधर-उधर घूमती हैं, तो भी वे सारे जल को पी नहीं सकती, थोड़ा ही जल पी सकती हैं । वैसे हम अपनी अपनी स्वल्प बुद्धि के, स्वल्प-मति के अनुसार थोड़ा ही ग्रहण कर पाये हैं । अतः अधिक ग्रहण के लिये इस कार्यशाला के निबन्धों का सम्पादन होना, प्रकाशन होना अति आवश्यक है । जैसा महाभाष्यकार ने कहा और दूसरी परम्परा में भी है कि एक ही बार में सारे अध्याय के ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता । "कालः पादेन पच्यते । पादः कालेन पच्यते" एक एक पाद जो उसका काल से ही, उसका पचन होता है, ग्रहण होता है । इसलिये उसको हम बाद में भी पढ़ सकते हैं । जो आखिरी सत्र था— सांस्कृतिक पक्ष, ऐतिहासिक पक्ष, दार्शनिक पक्ष पर, इस विषय में भी कोई मुख्य निबन्ध होता तो अच्छा होता । उस पर हम विचार-विमर्श कर सकते, अपनी-अपनी आशंकाओं को पूछ सकते । उस विषय में ज्यादा कुछ चर्चा अच्छी तरह से नहीं हुई, ऐसा मुझे प्रतीत होता है । मेरा एक सुझाव ऐसा है कि संपादन के प्रसंग में इस पक्ष को लेकर कोई विद्वान् अपना निबन्ध प्रस्तुत करे । उसमें उस पक्ष का सर्वेक्षण होगा, तो वह अधिक लाभदायक होगा । इस चर्चासत्र में कई बार वैदिक और तान्त्रिक श्रुति के सम्बन्ध में चर्चा हुई और तिवारी जी ने कहा—"श्रुतिस्तु द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च" इस विषय पर भी कोई निबन्ध रहता तो अच्छा होता । मैं उसके विषय में इतना कहना चाहता हूँ कि भारतीय तन्त्रशास्त्र के मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय में हैं, उस विषय पर कोई निबन्ध उपोद्घात के रूप में हो तो अच्छा है । संपादन के काल में यदि उसको सम्मिलित किया जाये तो अच्छा रहेगा, जिससे परवर्ती काल में जिन कल्पनाओं-संकल्पनाओं का विकास हुआ, उसका मूल वेद में या वेदोत्तर वाङ्मय में ऐसा मिलता है, इस पर प्रकाश डाला जा सकता है । द्विवेदी जी ने आमन्त्रण के साथ विषय-उपस्थापन के रूप में एक निबन्ध भेजा था, उसमें तन्त्रशास्त्र का ऐतिहासिक विकास कैसा हुआ है, इस विषय में अच्छा लिखा है । किन्तु इस विषय पर अभी बहुत कुछ लिखने की आवश्यकता है । इससे वेदों और तन्त्रों का संबन्ध क्या है, उस पर अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा ।

यह तन्त्रशास्त्र की कार्यशाला हमारे लिये, हमारे स्वाध्याय के लिये बड़ी लाभप्रद रही है । यहां अच्छी सुविधाएं थी, कठिनाई कोई नहीं थी, इसीलिये हम पूर्ण काल इसमें व्यतीत कर सके । आप सब लोगों ने हमारी सुविधा की ओर अच्छी तरह से ध्यान दिया । इसलिये हम आप सब लोगों के, आपके सहायकों के, छात्रों के, विशेष कर निदेशक जी के, द्विवेदी जी के आभारी हैं ।

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

अभी डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी जी ने यह आशंका व्यक्त की कि क्या विष्णुपुराण पर विज्ञानवाद का प्रभाव है ? इस सम्बन्ध में मैं यह निवेदन करूँ कि पुराण ऐसा वाङ्मय है, जिसने भारतीय संस्कृति में जो भी जहां अच्छा मिला, उसको संगृहीत किया है । आचार्य नरेन्द्रदेव जी तो समाजवादी थे, किन्तु उन्होंने लिखा है कि भारतीय संस्कृति को यदि एक नाम हम दें, तो यह "सनातन धर्म" हो सकता है । पुराणों की अपनी यही विशेषता है और सनातन धर्म की भी विशिष्टता उसकी इस सर्व-संग्राहकता में ही है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

प्रो० बहुलकर जी ने अपनी टिप्पणियां प्रस्तुत की, आपने सुनी, उससे हमें अपने प्रति बड़ा विश्वास पैदा हुआ । असल में यहां जो सेमीनार या कार्यशाला आयोजित की जाती है, उसको सफलता तक कैसे पहुंचाया जाय, इसके लिये स्थानीय तीनों विश्वविद्यालयों के विद्वानों को बुलाकर दो-तीन बार पहले ही उसका प्रारूप तैयार किया जाता है, जिससे इसके संचालन में और दिशा देने में बड़ी सहायता मिलती है । मैं समझता हूँ कि यह विधि अच्छी है । प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी हम सब लोगों के मार्गनिर्देशक थे, उन्होंने ही यह विधि परिचालित की थी । मैं और विद्वानों को आहूत करता हूँ कि वे इसकी अच्छाइयां और बुराइयां बतलावे और आगे की कार्यशाला के संयोजन के लिये सुझाव दें । "विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः" यह दोषज्ञ भी विद्वान् का एक विशेषण है । अस्तु, अब मैं शान्तिनिकेतन के प्रो० सुनीतिकुमार पाठक जी को सादर आमंत्रित करता हूँ कि वे अपनी प्रतिक्रिया और अपने सुझाव प्रस्तुत करें ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

अभी दिये गये निर्देश के अनुसार मुझे कुछ कहना है । मैं बहुत देर से यहां हाजिर हुआ हूँ । इसके लिये मैं क्षमाप्रार्थना कर रहा हूँ । हमारे आदरणीय द्विवेदी जी ने कहा कहा से विशेष विशेष विषय के प्रवीण ज्ञाताओं का चुनाव किया और उनके निबन्धों और वक्तव्यों से जो कुछ निष्कर्ष निकल सका, उन्होंने निकाला । इसके लिये मैं सबसे पहले उनके प्रति आभारी हूँ । जब मेरे पास सूचना गयी थी, तब मैंने सोचा कि इन विषयों में क्या लिखा जाय ? और इसके लिये उनके साथ मेरा पत्राचार भी हुआ कि इस विषय पर क्या लिखा जा सकता है ? लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि यह आवश्यक है । हमारे दिवंगत श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी की एक बड़ी विशेषता थी कि वे सारे

विचार-विमर्श को टेपरिकार्ड में चढ़ा लेते थे । इसका मतलब यह है कि किसी को यहां छुटकारा नहीं मिलेगा और उसको पूरी सावधानी से बोलना पड़ेगा । श्रोता को लाभ पहुंचाने के लिये उसे उपाय कौशल का, बोधिसत्त्व के उपाय कौशल का नहीं, हमारी समन्वय बुद्धि के उपाय कौशल का और उपाय कौशल के साथ प्रज्ञा की युगनद्ध स्थिति का भी सहारा लेना होगा । यह हमारे सामने बड़ी लाभदायक स्थिति है ।

अपने वक्तव्य को मैं उडरफ साहब से शुरू कर रहा हूँ । उडरफ साहब का भी कहना था कि भारत की जितनी तन्त्रसाधना है, इसका मूल शैव सिद्धान्त या शैव तन्त्र में है । उसी का विकास धीरे धीरे विभिन्न रूपों में हुआ । इस दृष्टि को उन्होंने एक नई दिशा दी । उडरफ साहब नहीं रहते, तो आज तन्त्र हमारे सामने एक अछूत विद्या रह जाती । हालांकि हमारे मित्रवर तिवारी जी पश्चिमी पण्डितों के विचारों की कटु समालोचना करते हैं, कल भी बात आई कि होम्योपैथी गोली की तरह पश्चिमी विचार मीठे लगते हैं । लेकिन मैं सोचता हूँ कि मैकडोनल साहब न रहते, रिजडेविट्स साहब न रहते, हिवेक साहब न रहते, उडरफ न रहते, तो हमारी जितनी भारतीय विद्याएं हैं, वे शायद अवलुप्त हो जाती ।

परमश्रद्धेय दिव्यवज्र वज्राचार्य जी के साथ रहने का यहां मुझे लाभ मिला । नेपाल में इस विषय की क्या स्थिति चल रही है, इस विषय में थोड़ा सा उनके साथ वार्तालाप हुआ । उनकी भी यही आशंका है कि नयी पीढ़ी के सामने हम लोग ऐसी कोई सम्भावना नहीं रख पा रहे हैं, जिससे कि यह परम्परा आगे चलती रहे । इस दृष्टि से भारतीय तन्त्रशास्त्र की जो यह कार्यशाला हैं, मेरे ख्याल में एक नयी दिशा लायगी । आगे के लिये हमारे मित्र डॉ० बहुलकर जी ने दो-तीन बहुत अच्छे सुझाव दिये हैं । मैं तो सुझाव लेने आया हूँ । विचारों को कैसे मूर्त रूप दिया जाय, इसके लिये ज्यादा सोचता हूँ । नाट्यशाला में रंगमंच के पीछे साज घर रहता है, उस साज घर का आदमी मैं हूँ । यहां हमारे सामने जो सुझाव आये हैं, उनको कैसे हमलोग कार्यान्वित करें, यही हमारे सोचने की बात है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

"विद्या ददाति विनयम्" के अनुसार डॉ० पाठक ने अपने को बहुत छिपाने की कोशिश की है । लेकिन हम लोग उनको जानते हैं । "न रत्नमन्विष्यति मृगयते हि तत्" द्विवेदी जी खोज ही लेते हैं । ये इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं । श्री उपाध्याय जी के समय से ही ये हम लोगों से घुले-मिले हैं । मैं अब कर्नाटक से पधारे प्रो० चन्द्रशेखर कपाले जी से निवेदन करता हूँ कि वे कुछ ऐसी बातों की ओर, जिन पर अभी तक किसी वक्ता ने कुछ नहीं कहा, उन पर भी ध्यान दिलावे ।

प्रो० चन्द्रशेखर कपाले

अध्यक्ष महोदय जी और सभी विद्वान् मित्रगण ! अब तक जिन लोगों ने अपने अपने अभिप्राय इस कार्यशाला के सम्बन्ध में व्यक्त किये, उनमें से

सभी ने कहा कि पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी जी कहां कहां से ये रत्न दूढ़कर लाये हैं । उन रत्नों में अपना शुमार कराने की मैं घृष्टता नहीं करूंगा । जब पंडित जी ने मुझे वीरशैवों के दीक्षा आदि विधिविधानों पर निबन्ध लिखने के लिये कहा और इस तन्त्रशास्त्र की कार्यशाला का परिचय भी दिया, तो मैंने वह प्रस्ताव झट से स्वीकार कर लिया । इसलिये नहीं कि मैं इस विषय का बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ, तन्त्र-साहित्य का मैं बहुत बड़ा अधिकारी हूँ । मैं तो यह चाहता था कि साहित्य का अभ्यास करते समय उसमें कुछ तन्त्र का भी जो अंश आता है, उसके विषय में, भारतीय तन्त्रशास्त्र के बारे में अधिक जानकारी इस कार्यशाला से मुझे प्राप्त होगी । इस आशा से मैं यहां उपस्थित हुआ, तो एक ज्ञाता के स्वरूप में नहीं, एक शिक्षार्थी के रूप में यहाँ मैं आया । बड़े आनन्द के साथ मैं यह कहना चाहता हूँ कि मुझे बहुत ही लाभ हुआ । तन्त्र-साहित्य के बारे में अब तक की धारणा ऐसी रही कि यह साहित्य कुछ ही विद्वानों की सम्पत्ति होती है और सामान्य जन तक यह नहीं पहुँचती । उसी धारणा से मैं भी अब तक सोचता था, लेकिन अब इसका जो प्रवर्तन इस तरह से यहां होता हुआ देखता हूँ, तो यह बहुत अच्छा लगता है ।

हमारे महाराष्ट्र में, मैं कर्नाटक से आया हूँ, लेकिन मूलतः मैं महाराष्ट्रियन हूँ, मराठी में महानुभावों का भी साहित्य है, जो आगे चलकर पंजाब तक फैला । चक्रधर जी ने उसका प्रवर्तन किया था । उस महानुभाव-साहित्य की एक विशेषता यह मालूम पड़ी कि उन्होंने उस काल की परिस्थिति के अनुसार अपना साहित्य लोगों से छुपाकर रखा । इनका यह साहित्य सामान्य देवनागरी में होने पर भी पढ़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि वह सांकेतिक लिपि में लिखा हुआ था । हेतु यह था कि दूसरों से यह अलग रहे, दूसरों को मालूम न हो । शायद ऐसा ही कुछ कारण जो पंडित जी ने भी कहा कि तन्त्र शब्द बहुत कुछ बदनाम भी हुआ है, तो उसके पीछे की यह भी धारणा हो सकती है । उस प्रकार का जो साहित्य अब तक उपलब्ध नहीं था और ऐसी कार्यशाला के रूप में अब लोगों के सामने ज्यादा से ज्यादा आता है, यह मैं इस कार्यशाला की उपलब्धि समझता हूँ । हो सकता है कि इससे पहले भी बहुत कुछ कार्य हुआ हो । लेकिन मैं तो प्रथम बार यह अनुभव कर रहा हूँ । यह मेरा निजी लाभ है, ऐसा मैं समझता हूँ ।

इस कार्यशाला में सम्मिलित होने के बाद मेरी इच्छा हुई कि तन्त्र-साहित्य के बारे में जो कुछ यहां मुझे मालूम हुआ, उसे मैं अपने माध्यम से अन्य लोगों तक पहुँचा सकूँ । होता क्या है कि किसी एक क्षेत्र के विद्वान् अपना क्षेत्र मर्यादित रखने का प्रयास करते हैं । उससे बाहर तक उस विषय का फैलाव नहीं होता । मैंने यहां अनुभव किया कि तन्त्र-साहित्य के भिन्न भिन्न अभ्यासकों ने अपने अपने विचार प्रकट किये । मैंने वीरशैव दीक्षा आदि के विधिविधान के बारे में कहा । लेकिन इसके बारे में जो कुछ ज्ञान यहां सामान्य जनों को होना चाहिये था, नहीं हो सका । मैंने खास करके यह देखना चाहा है कि उनमें कुछ वीरशैव मत का उल्लेख आया है क्या ? लेकिन वह आया नहीं, मतलब यह है कि जब हम आसुत हिमाचल सब लोगों की

एकता चाहते हैं, भिन्न भिन्न राज्यों में जो यह साहित्य बिखरा हुआ है, उसका परस्पर परिचय अधिकतर लोगों को हो, इसके लिये ऐसी कार्यशालाएँ उपयुक्त हो सकती हैं। उसमें पत्रकारिता का भी सहयोग होना चाहिये, जिससे कि सामान्य लोगों को ये तमाम बातें मालूम हो सकें। वैसे तो इस कार्यशाला की सफलता के बारे में किसी को संदेह नहीं है, वह बहुत ही अच्छे ढंग से सम्पन्न हुई है।

तिब्बती संस्थान के जितने भी कर्मचारी हैं, उन्होंने सबकी बहुत ही अच्छी देखभाल की है। अभी जैसा कहा कि विद्या और विनय इन दोनों का प्रत्यन्तर यहाँ हमें देखने को आया। सामान्य से सामान्य कर्मचारी से लेकर बड़े से बड़े अधिकारियों तक में बड़ी विनयशीलता देखी। हर तरह की व्यवस्था यहाँ पर उन्होंने की। इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं अनेक विद्वानों के भाषणों से जो लाभान्वित हुआ, उसके बारे में तो मैं कह चुका हूँ। कुछ बातें जो मेरे दिमाग में आयीं, वह भी मैं कहना चाहता हूँ।

ऐसी कार्यशालाओं में कई विद्वान् आते हैं, वे परस्पर एक दूसरे से अच्छी तरह से परिचित होते ही होंगे, लेकिन एक पद्धति के तौर पर निबन्ध के साथ उनका थोड़ा सा परिचय भी हो तो और अच्छा होगा, ऐसा मैं समझता हूँ। उसकी शुरुआत मैंने स्वयं अपने निबन्ध से की। अभी यहाँ सात दिनों तक हम एक दूसरे से मिले, चन्द लोगों को नजदीक से बातचीत कर उन्हें पहचान भी सके, लेकिन सभी का परिचय नहीं हो सका। परिचय का माध्यम तो यही हो सकता है कि अपने अपने निबन्धों के साथ वह परिचय हम जोड़ दें या शुरू के दिन ही जो जो विद्वान् यहाँ आये हैं, उनका प्रत्यक्ष सामने आकर परिचय करा दिया जाय।

दूसरी बात, हमने जो अब तक चर्चा की, उसमें केवल सैद्धान्तिक चर्चा हुई। वैसा ही नजर आया। प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं निकला। आपने कहा कि हमने कुछ जानकार लोगों को यहाँ निमन्त्रित किया था, यदि वे आते तो उसका भी थोड़ा अनुभव हो जाता कि किस तन्त्र की उपासना किस पद्धति से की जाती है। वैसे तो प्रदर्शनी में बहुत कुछ है, लेकिन उतने से सामान्य आदमी को उसकी जानकारी पूरी तरह से नहीं हो सकती। मुझे मालूम है कि ऐसी कार्यशालाओं के आयोजन में बहुत कुछ कठिनाई आती है। इस मर्यादा को मैं जानता हूँ, फिर भी सूचना के तौर पर मैं यह कहना चाहता था।

तीसरी बात, प्रदर्शनी में मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि के जो कुछ चित्र रखे हैं, उनके साथ साथ अगर हम हर तन्त्र के कुछ साहित्य ग्रन्थों को भी रखते, तो अच्छा होता। यह दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना इस संस्थान से संबद्ध है। यहाँ मुख्यतः बौद्ध तन्त्र ग्रन्थ ही संगृहीत किये जाते होंगे, लेकिन जैसा कि इस तन्त्रशाला का उद्देश्य है, उस दृष्टि से यदि हम सोचें, तो अन्य तन्त्रों का साहित्य भी एक तौलनिक अभ्यास के लिये यहाँ रखना उचित होगा। मुझे मालूम नहीं कि वह है या नहीं? यह भी मर्यादा हो सकती है कि जिस कार्य के लिये यह संस्थान खड़ा है, उसी शाखा के ग्रन्थ यहाँ हो, जब हम

तौलनिक अभ्यास करना चाहते हैं, जैसा कि यहां सभी तन्त्रों के साहित्य के अभ्यासक जमा हुए हैं, तो उनके अभ्यास के लिये वैसा साहित्य यहां अवश्य होगा. ऐसा मैं समझता हूँ ।

प्रत्यक्षतः और व्यावहारिक रूप से अभी एक सूचना हमारे मित्र डॉ० बहुलकर जी ने दी कि निबन्धों के भेजने की कुछ मर्यादा हो और उसके बाद दूसरे किसी को अवसर दिया जाय । मैं समझता हूँ कि ऐसी अगर मर्यादा डाल दें, तो अगली कार्यशाला के लिये अभी से निमंत्रण देना शुरू करना पड़ेगा । तो भाई यह जरा मर्यादा से ज्यादा लगती है । कुछ महीना दो महीना तो ठीक है, लेकिन उसके साथ साथ सभी विद्वानों का भी यह कर्तव्य है कि वे भी मर्यादा का पालन करें और समय से अपने अपने निबन्ध भेजें, तो उसका लाभ सभी को अच्छी तरह से हो सकेगा ।

प्रो० रामशकर त्रिपाठी

हम बड़े आभारी हैं, प्रो० कपाले साहब के कि उन्होंने कई सुझाव दिये । मैं एक बात स्पष्ट करना चाहता हूँ । यह सही है कि केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान बौद्ध अध्ययन को विकसित करने के लिये है, सुरक्षित करने के लिये है और विशेष रूप से चीन के दुर्दान्त आक्रमण के कारण जो परम्परागत तिब्बती विद्वानों को तिब्बत छोड़ देना पड़ा और वहां जो परम्परागत अध्ययन-विधि को क्षति पहुंची है, उसकी सुरक्षा के लिये है । यह सारा अध्ययन उनकी अपनी अस्मिता है, उनकी संस्कृति का अंग है । यदि वह सुरक्षित नहीं रहेगी, तो तिब्बतियों के सुरक्षित रहने का कोई मतलब नहीं होगा । परमपावन दलाई लामा जी के विशेष प्रयासों से और हमारे भारत के पूर्व प्रधानमंत्री प० जवाहर लाल नेहरू के परामर्श से इस प्रकार के संस्थानों की स्थापना हुई, जिससे कि तिब्बत में प्रचलित जो अध्ययन-परम्परा थी, जो शास्त्रार्थ-परम्परा थी, जो साधना-परम्परा थी, जो उनकी विविध प्रकार की विद्याएँ थी, कलाएँ थी, उनको सुरक्षित रखा जाय । भारतीय संस्कृति के पूरे अध्ययन की दृष्टि भी इसके पीछे बराबर रहती है । हमारी विद्याओं की परम्पराएँ परस्पर इतनी मिली जुली हैं कि स्वतन्त्र रूप से एक का अध्ययन नहीं किया जा सकता, याने किसी एक विद्या के अध्ययन में तब तक आदमी पारंगत नहीं हो सकता, जब तक कि अन्य विद्याओं का भी अध्ययन न किया जाय । इसी लिये हमारे यहां लाइब्रेरी में सभी भारतीय विद्याओं, दर्शनों और साधनाओं के ग्रन्थों का चयन किया जाता है । अभी यह संस्थान बहुत वर्षों का नहीं है, लेकिन दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के लिये स्वतन्त्र पुस्तकालय की व्यवस्था कर दी गई है और वहां भारतीय तन्त्रशास्त्र एवं योगशास्त्र की सभी शाखाओं के साहित्य का संग्रह किया जाता है । इस संस्थान के इस विशाल सांस्कृतिक दृष्टिकोण का, इस कार्यशाला का आयोजन ही जीता-जागता प्रमाण है । सरकारी अनुदान जितना मिलता है, उसी के आधार पर पुस्तकों का क्रय होता है, इसलिये हो सकता है कि आपकी अपेक्षा के अनुरूप संग्रह न हुआ हो । फिर

भी आप देखें, तलाश करें कि यहां केवल बौद्ध विद्या के ही ग्रन्थ नहीं हैं, सभी विद्याओं के ग्रन्थ रखे जाते हैं ।

प्रदर्शनी में भी आप देखेंगे कि बौद्ध तन्त्रों से अतिरिक्त जो भारतीय तन्त्रशास्त्र की शाखाएं हैं, उनके ग्रन्थ भी रखे हुए हैं, हो सकता है कि उनकी संख्या कम हो ।

एक जिज्ञासु विदुषी हम लोगों के बीच में है डा० मधु खन्ना । वह कुछ वर्षों से इस विद्या के अध्ययन में लगी हुई हैं । जब उन्होंने सुना कि यहां तन्त्र के ऊपर कार्यशाला हो रही है, तो दिल्ली से आकर इस कार्यशाला में अपना सहयोग दे रही हैं । अब मैं उनको अपने विचार प्रकट करने के लिये आमन्त्रित करता हूँ ।

डा० मधु खन्ना

Respected Bhattaji, Dwivediji, learned scholars and friends! I have been involved in *tantra* for many years. And in this way of creative journey I have come across various ideas and I would like to share some of my observations with you today. In creative journey, many ideas have emerged, have given an insight into several aspects of tantric literature. However, I would like to point out some aspects of *tantra* that need to be explained fully. A comprehensive vision of *tantra* will emerge only when we look at each of these aspects more closely. As a humble scholar, I believe that what is of utmost importance is the right perception of *tantra* and this task can only be resolved by scholars. Because the scholars have the critical ability to explore a subject and also the right education and right preception to understand this very complex *śāstra*. Now in this context, I just want to pinpoint a few certain subjects that we need to look into. The first is: What are the defining boundaries of *tantraśāstra*? And I think that this is a very critical question, because there is a lot of mis-representation of *tantra*; there has been a lot of criticism on *tantra* and only scholars can resolve this. On the other hand, on the popular level there is a lot of misunderstanding, which I feel, we have to understand that why *tantra* is misunderstood, and what are the ways through which it should be explained, not only to scholars, but also to the popular masses. Because, when one works through, one sees that everybody talks about *tantra*, everybody is wearing *yantras* or performing some sort of *indrajāla* in lives. And when we question these people and ask them what you think *tantra* is all about, they say oh, it is all to do with magic and *munbo-jumbo*. So, and think that scholars have a very great responsibility to out line the defining boundaries and that takes me to some aspects which I feel scholarly assembly like this should look into. Now the first is the usage of the word *tantra* and its evolution, and evolution of its meaning and locating the emergence of tantric school of Indian religion, historically both in terms of the usage of the word and in terms of *tantra* as an independent school of thought. Now the second aspect has been noted by many scholars here, and I too consider it to be of most importance which is the relationship of Veda and Tantra. Because, again, even when we explore this question, there are many confusions. A part of *tantra* is absorbed in Veda, at the same time, Vedic thought also observes certain aspects

of Tantra. And we will have to know very definitively, where they run parallel, which aspect of Tantra has been absorbed in Veda and which aspect of Tantra is unique to itself. Secondly, we also have to explore the various substrata and forms of *tantra* in Indian thought, which of course, has been done very successfully in this meeting. But I think that we need to explore it even further. We have to know defining boundaries of *Śaivatantra*. How does the *Śaiva* tantra relate to the *Śākta* Tantra ? How much of *Śaiva* and *Śākta* tantras has been absorbed in Jain and Buddhist tantras and also at the same time, I feel it also necessary to know what form of *tantra* exists in the oral tradition, particularly in the tribal and village based communities. Because I know that some forms of tantras do exist in such communities and are in practice even today in certain villages of Gujarat and Bengal. So we have to know that definitively and also understand its forms, and also understand its heritage. Now the main thing that we have to explore is the extent of the Tantric scriptures both in terms of schools and locations. We have to know the inter-relationship of these various localities and also how *tantras* travelled from Kashmir to down South. And how it travelled from South to Bengal and which aspects were absorbed and which were distinctive to that particular geographical area. Then the next question which will clarify many aspects of confusions in our mind is the essential difference between *siddhi*-oriented *tantra* and *mokṣa*-oriented *tantra*. Where they are parallel, where they overlap, where they separate. Then the next question which I think necessary, is Tantra is practised in different centres of tantric worship. Again as in Bengal, Kerala, Kashmir, Tamilnadu and other places. Now apart from this, there are certain other questions which we need to look into. And I think one of the most important is the various perceptions of *tantra* both in terms of its all system, how *tantrikas* perceive themselves, and how other schools outside the tantric fold perceive the *tantrika*. You know what was the inter-relationship between the two. Then the list of all which is quite obvious, what is the uniqueness and the contribution of *tantra*, not only to Indian, but to the world culture in general. And last of all, the unique nature of Tantra art, and its relation to the main stream of art in Hindu thought. And I think this is very relevant because *tantra* is not only unique in itself as a philosophy but also in its art form. Tantra has given a very distinctive visual iconography and imagery to Indian culture and, I would say, to the world culture. Because it is in *tantra* that you find the first evidence of abstract art, which of course, goes back to Vedic period, but the way, the *tantra* has used *Maṇḍalas* and other forms of mathematical abstraction is not found in any culture in the world. Today thousands of arts, all over the world, are inspired by Tantric art. In fact there is a very great movement of *tantra* art, both in India, America and other countries. I think it is very relevant to explore the whole stream of tantric iconography, both in terms of its representational form and its abstraction and show how it is used in relation to ritual and *upāsana*. Another question, which I think very relevant, is the relationship of mythology and *upāsana*. Why is it that a certain type of mythology was adopted by *Śāktism* and is related to the *pujākarma* ? For instance, I found in my own research on *Śrīvidyā* that there is a very integral relationship between the two. For instance, as goddess *Tripurasundarī* is visualised as a triad and the same triad is visualised in another form of the

Śricakra. So here we find that the visual form of the *pujā* and the mythology are intrinsically related and this, I think, is a unique contribution of tantra to world culture. It is in this respect that I find that we need to explore, and that I thank all of you for making this experience wonderful one. My special thanks to Dwivediji, for allowing me to be present here, on this occasion.

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

हमने डॉ० मधु खन्ना के विचार सुने । अब मैं संस्थान के मूलशास्त्र के प्रो० सेम्पा दोर्जे जी को निमन्त्रित करता हूँ । मूलशास्त्र से मतलब भारतीय शास्त्र से है, जिसका भोट देश में भोटभाषा में अनुवाद हो चुका है और वहाँ की अध्ययन परम्परा में इसका नियमित अध्ययन-अध्यापन होता है । मैं उस मूलशास्त्र विभाग के प्रो० सेम्पा दोर्जे जी से आग्रह करता हूँ कि वे भी अपने विचार प्रस्तुत करें । प्रो० सेम्पा दोर्जे भारत के हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले के रहने वाले हैं और इन्होंने तिब्बत जाकर एक युग से अधिक, बारह वर्ष से अधिक तिब्बत में रहकर परम्परागत विद्याओं का अध्ययन किया है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

पूज्य अध्यक्ष जी, आदरणीय द्विवेदी जी और विद्वद्वृन्द ! इस कार्यशाला की योजना बनाने के लिये जब बैठके हो रही थी, उस समय तो हम लोगों को यह डर था कि यह कार्यशाला कितनी सफल हो पावेगी । सबसे ज्यादा डर यह था कि जिन तान्त्रिक विषयों को लेकर हम लोग विचार करना चाहते हैं, जो मुद्दे रखना चाहते हैं, जिस प्रकार की चर्चा करना चाहते हैं, उस तरह के विद्वान् कहां से मिलेंगे - ? विद्वान् इस विषय की खुलकर चर्चा करने की स्थिति में हैं या नहीं, यह दूसरा डर था, चूँकि तन्त्र चीज ही ऐसी है । खुले आम कहने की उसकी परम्परा भी नहीं है । इसलिये डरते डरते हम लोगों ने बैठके की । द्विवेदी जी ने आश्वस्त किया था कि इन सभी विषयों के विद्वान् मिल जायेंगे । इस तरह से कार्यशाला की योजना बनी और वह आगे बढ़ी । आखिर जब कार्यशाला में हम लोग उपस्थित हुए, तो हमें एक ओर तो बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ, दूसरी ओर बहुत बड़ा आनन्द मिला, क्योंकि एक बात तो यह है कि इस कार्यशाला में जितने विद्वान् पधारे हैं, वे सब अपने-अपने शास्त्रों के विख्यात विद्वान् हैं । हम सबको मालूम है कि सेमिनारों में विषय बहुत कम रहते हैं और बातें बहुत लम्बी-लम्बी हो जाती हैं । उन बातों से विद्वानों को न कुछ लेना होता है और न देना । बस एक औपचारिकता निभा कर सब निकल जाते हैं । हमें डर था कि कहीं ऐसा ही न हो जाय । लेकिन ऐसा हुआ नहीं । यहाँ जितने निबन्ध आये हैं, उन सबमें शास्त्र-सम्मत, विषयस्पर्शी, गहन अध्ययन की झलक मिलती है । इसीलिये और इसी दृष्टि से यह कार्यशाला सफल मानी जायगी । इनसे हमारी जैसी अल्प बुद्धि वालों ने तो बहुत फायदा उठाया है और इनसे हमें अच्छा दिग्दर्शन मिला है ।

दूसरी बात, इस कार्यशाला की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह भी है कि इसमें जिन जिन विषयों को रखा गया, वे प्रायः सभी भारतीय तन्त्र-शाखाओं में

चर्चित है । यद्यपि इनके अन्दर बहुत बड़ा भेद भी है, जिनकी कोई थाह नहीं है । फिर भी जितनी तान्त्रिक मुख्य धाराएं हैं, कालिक दृष्टि से, सम्प्रदाय की दृष्टि से और परम्परा की दृष्टि से भी जो मुख्य धाराएं हैं, उन सब पर प्रायः यहां विचार हुआ है । बहुत बड़ी उपलब्धि इसकी यही रही है ।

तीसरी बात यह है कि यहां सभी निबन्ध-लेखकों ने अपने अपने शास्त्रसम्मत मत प्रस्तुत किये हैं, उन पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । कुछ तुलनात्मक दृष्टि भी इसमें सामने आई है । तुलनात्मक विचार प्रस्तुत करने में एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि तुलना करने वाला आदमी अपने शास्त्र को तो ठीक से समझ रहा है, लेकिन वह दूसरों को किस ढंग से समझ रहा है, उसी में दिक्कत होती है । जब तक हम उसी शास्त्र के हृदय में जा कर नहीं सोचेंगे कि उस शास्त्र की क्या मान्यता है ? तो उस शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने की स्थिति में हम नहीं होंगे । तुलना कर दी जायगी, तो भी वह तुलना नहीं होगी । सही तुलना करने की जो स्थिति है, वह बहुत कम जगहों में देखने को मिलती है । इस कार्यशाला में सम्मिलित विद्वानों ने तुलना और समीक्षा का जो स्वरूप सामने रखा, इससे बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष मिला है ।

इस कार्यशाला की जो एक-दो खामिया नजर आ रही हैं, उसकी पूर्ति करना अभी बाकी है । तन्त्रशास्त्र के अनेक मुद्दों पर हम लोगों ने इस कार्यशाला में शुरू से अन्त तक विचार किया है और उसके हर पहलू पर अच्छी चर्चा भी हुई है, किन्तु हिन्दुस्तान में दार्शनिक चिन्तन के बिना कोई शास्त्र चलता नहीं है । यहां तक कि नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र का भी अपना दर्शन है । दुनिया की किसी भी संस्कृति में, किसी की साहित्य में यह दिखाई नहीं पड़ता । यहां कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं है, जिसके पीछे कोई दर्शन न हो, जिसका कोई दर्शन न हो । इसी लिये यहां की जितनी परम्पराएं हैं या जितने मुद्दे हैं, जितनी पद्धतियां हैं, इन सबका अपना-अपना दर्शन है । इस पक्ष को हम लोग बहुत ज्यादा उजागर नहीं कर पाये हैं ।

यद्यपि कल हम लोगों ने चेष्टा की है । बहुत से विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला है, जिनमें आज एक उपस्थित नहीं है । प्रो० कमलेशदत्त ने व्याकरण शास्त्र का जो दर्शन उपस्थित किया था, वह कुछ लोगों को विषयान्तर लगा । लेकिन हमें तो वह विषयान्तर नहीं लगा । यहां बहुत से निबन्धों में वायु की चर्चा आई है । वायु एक तत्त्व है, उसका वाक् से सीधा सम्बन्ध रहता है । उस वाक्तत्त्व के विस्तार से ही वायु का प्रचलन होता है । अभी उसका विस्तार हमें नहीं करना है, लेकिन उस सारे विस्तार से जो निकलता है, व्याकरण दर्शन भी उसी से निकलता है । उसी दृष्टिकोण से यदि इसको समझने की चेष्टा करें, तो यह बहुत अच्छी बात होगी । दार्शनिक पक्ष की भी चर्चा विहंगम रूप से कल हो ही गई है, लेकिन इस तरह की प्रासंगिक बातों का भी यदि हम समावेश कर सकें, तो बहुत अच्छा होगा । अभी प्रो० बहुलकर जी ने इसकी ओर संकेत किया है । यदि सम्भव हो तो सम्पादन के समय

जितने निबन्ध-लेखक हैं, उनसे थोड़ी-बहुत सामग्री टिप्पणी के रूप में मांग कर या आनुषंगिक रूप में कुछ लेख मांग कर प्रकाशन के समय उनका समावेश हो सके, तो बहुत अच्छा होगा। मुझे एक बात और कहनी है, क्योंकि यह आखिरी दिन है।

जहां तक बौद्ध दर्शन या तन्त्र की बात है, द्विवेदी जी ने एक दिन बड़ी अच्छी बात कही। हमें बहुत अच्छी लगी कि हिन्दू तन्त्र नाम की कोई चीज नहीं है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी तन्त्रों की साम्प्रदायिक दृष्टि या परम्परा के अनुसार पूजा-पद्धतियाँ हैं, उनके संस्करण हैं। उस संस्करण को थोड़ा हटाकर इसके अन्दर सामान्य तत्त्व क्या है? उसका भी थोड़ा विश्लेषण करने की, अलग करके प्रस्तुत करने की चेष्टा कही होनी चाहिये। तब जा कर तुलनात्मक दृष्टिकोण को सामने लाया जा सकेगा। इस तरह से हर तन्त्र या हर सम्प्रदाय या हर मुद्दे को यदि देखना हो, तो पहले हमें चारों ओर घूमना पड़ेगा। तभी उसका पूरा स्वरूप दिखाई पड़ेगा। अन्यथा एक ही कोण से यदि हम देखना शुरू कर देंगे, तो हमारे सामने जो मुद्दे हैं, उनका सर्वांगीण रूप हमारे सामने नहीं आ पावेगा।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अब मैं डॉ० किशोरनाथ झा से निवेदन करता हूँ कि वे अपनी राय जाहिर करें।

डॉ० किशोरनाथ झा

आदरणीय अध्यक्ष जी, उपस्थित सारस्वत वर्ग। मैं न्यायशास्त्र का विद्यार्थी रहा, महाकालसहिता का संपादन करने के कारण कुछ तन्त्र का भी परिचय मिला और परिचय मिलने के बाद कुछ साधना भी चली। मैं एक ही बात कहना चाहता हूँ कि इतना बढ़िया आयोजन मेरी दृष्टि में अब तक नहीं आया। इस शास्त्रीय चर्चा में जिन्होंने भाग नहीं लिया, वे चूक गये। हम लोगों का यह सौभाग्य रहा कि इसमें भाग ले कर हमने अपने क्षेत्र का, अपने ज्ञान का जो विस्तार किया, उसका लाभ हमें भविष्य में बहुत मिलेगा। अभी मुझे बस इतना ही कहना है।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

संस्थान के अध्यापक श्री उर्ग्येन तेनजिन से मैं निवेदन करता हूँ कि आपने पूरी कार्यशाला में बड़े ध्यान से सारे निबन्धों को सुना है और चर्चा में भाग लिया है। मैं आपसे अपनी राय व्यक्त करने के लिये निवेदन करता हूँ।

श्री पी० उर्ग्येन तेनजिन

मुझे यहाँ कोई समीक्षापूर्ण विवेचन नहीं करना है। मुझे तो कुछ बातों पर इंगित मात्र करना है। हमारे निदेशक महोदय का भाषण मैंने सुना है। निदेशक महोदय ने हम सबको बताया था कि तिब्बत में तन्त्र का कैसे प्रवेश हुआ। आचार्य पद्मसम्भव और उनके पच्चीस अभिषिक्त शिष्यों के द्वारा भारत से

खोज खोज कर तिब्बत में जो तन्त्र लाये गये, उनसे संबद्ध चर्चा यहां एक दम अछूती रह गई, क्योंकि उस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में मुझे लिखने को नहीं कहा गया। संयोजक महोदय ने मुझे शारीरिक रूप में उपस्थित होने का जो निमंत्रण दिया, उनके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे लिखने की इतनी क्षमता नहीं है शायद, इसी बात को ध्यान में रखकर मुझे लिखने को नहीं कहा गया। इस विषय में मुझे इतना ही कहना है कि पदासम्भव से संबद्ध तन्त्र-ग्रन्थों पर तिब्बत में तीन सौ साल तक जो अनुवाद ग्रन्थ लिखे गये, वे पूर्व अनुवाद के नाम से समझे जाते हैं। उन तन्त्रों पर यहां कोई बात नहीं उठी, किसी ने इन पर कोई चर्चा नहीं की। यह पक्षपात की बात नहीं है, इसको स्पष्ट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र और योगतन्त्र की यहां पर्याप्त चर्चा हुई है। तिब्बत में बाद के अनुवादों और पूर्व अनुवादों में इनकी पर्याप्त चर्चा है। किन्तु जहां तक अनुत्तर तन्त्र की बात आती है, बाद के अनुवादों में पितृतन्त्र, मातृतन्त्र या अद्वयतन्त्र के नाम से जिनका परिचय मिलता है, वे महायोगतन्त्र, अनुयोगतन्त्र और अतियोगतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका परिचय "जिङ्मा तन्त्रसहस्र" नाम के एक ग्रन्थ से आप पा सकेंगे। विशेष कर जो सोलह-सत्रह तन्त्रों का समूह है, उसमें यह बात स्पष्ट रूप से समझाई गई है। इसकी सूचना मात्र मुझे देनी है।

यहां बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि हर तन्त्र की शाखा पर निबन्ध पाठ हुए। उनसे थोड़ा यह मालूम हुआ कि इन शाखाओं में अपना अपना विचार इस तरह का है। मगर जब उसकी तुलना करने के लिये कोई बैठता था, बात करता था तो वह ठीक नहीं लगता था। तुलना तो यहां एक दम नहीं के समान हुई। क्योंकि तुलना के लिये यदि कोई विशेष समय होता तो शायद यह हो पाता। कोई निबन्ध पाठ कर गया और उसके बाद कुछ लोग मनमाना बोल बैठे, इसी में सारा समय खत्म हो जाता था। तो तुलना तो नहीं हो पाई।

इस गोष्ठी में एक बात बहुत जोर से आई कि अनेक शब्द तन्त्रों की इन सभी शाखाओं में समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। किसने किसको प्रभावित किया, पहले कौन मौजूद था और बाद में किसने किससे लिया, यह बात एक दम स्पष्ट रूप से नहीं आ पाई। यहां के वैदिक विद्वानों का तो यही मत रहा है कि हर चीज वेद से आई है। वेदसंमत शास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि वे तन्त्र को हेय दृष्टि से देखते हैं। मगर अब तन्त्र का जो स्वरूप निखर कर आ रहा है, इसको इज्जत मिल रही है, तो हम सोचते हैं कि हर धर्म का शायद यही स्वभाव रहा है कि अच्छी चीज को अपना लेने की एक परिपाटी उनमें जीवित है। बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध तन्त्रों की विभिन्न शाखाओं पर जो निबन्ध प्रस्तुत किये, वे बहुत अच्छे थे, मगर यह बात उनमें सामने नहीं आ पाई। यहां बताया गया कि बौद्धों में तन्त्र है, जैनो में तन्त्र है और शैव-शाक्तों में तन्त्र है, किन्तु कुछ जैन विद्वानों का यही मत रहा है कि तन्त्र तो हमारे यहां उधार ली हुई चीज है। वह अपने सम्प्रदाय की, अपने शास्ता के द्वारा उपदिष्ट नहीं है। फिर भी ये सब बातें हमारे लिये

पढ़ने-लिखने की, समझने की है। सब मिलाकर मुझे यही कहना है कि स्पष्ट रूप से इस कार्यशाला की अन्तिम परिणति हमें देखने को नहीं मिली।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

मैं अब इस संस्थान के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र से अपनी प्रतिक्रिया और सुझाव प्रस्तुत करने के लिये निवेदन करता हूँ।

प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र

आदरणीय अध्यक्ष जी, प्रो० त्रिपाठी जी, द्विवेदी जी और मित्रों ! प्रसन्नता की बात है कि प्रो० द्विवेदी के संयोजकत्व में मनचाहे ढंग से इस कार्यशाला की परिणति आज हो रही है। प्रो० द्विवेदी जी की एक स्थापना रही है कि हमारे तन्त्रों में जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त का कोई अन्तर नहीं है, तन्त्र में हम भेद नहीं करते और मुक्त हो करके एक दूसरे के सिद्धान्तों का उद्धारण देते हैं, ग्रन्थों का उद्धारण देते हैं। उन्होंने 'आलोकमाला' के उद्धारण दिखाये, ऐसे ही शैव-तन्त्रों का दूसरी जगहों पर उद्धारण निर्देश किया कि केवल पूर्वपक्ष के रूप में ही नहीं, सिद्धान्तपक्ष के रूप में भी उन विषयों को लिया गया है। इस पर जो हम नाम दे बैठे हैं, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि, उन नामों को भी लेकर यहां चर्चा की गई, स्थानों को भी लेकर चर्चा की गई और अन्ततः इसी निष्कर्ष पर हम पहुंचे हैं कि दैशिक, कालिक और वैयक्तिक भेदों के होने पर भी सर्वत्र एक साम्य अनुस्यूत है, एकात्मकता, एकस्वरता है और यह बहुत महत्त्व की बात है। इसका आधार भी है, क्योंकि यह सारी चिन्तनधाराएं इसी भारतभूमि में उपजी हैं। इसलिये सबसे एक गन्ध का होना स्वाभाविक है।

कल प्रो० जी० सी० पाण्डेय से चर्चा हो रही थी, तो उन्होंने कहा कि उपनिषदों की अनुप्राणकता बौद्ध-शास्त्रों में भी जहां-तहां दिखाई पड़ जाती है। उपनिषद् का आग्रह लिये रहने पर भी प्रो० पाण्डेय बौद्ध धर्म-दर्शन के विद्वान् के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हैं। ये बातें अन्ततः आ जाती हैं कि एक ही देश की उपज होने के नाते कहीं समान रूप से एक ही विचार की उद्भावन हो सकती है, विदेशों में भी हो सकती है। उनमें कुछ कुछ कालक्रम भी हो सकता है, पौर्वापर्य भी हो सकता है। इस लिये कौन पहले हुआ, कौन बाद में हुआ, इसमें दोष और गुण का विवेचन नहीं होना चाहिये। कोई बहुत प्राचीन हो गया, इसलिये बहुत अच्छा हो गया, यह भारत की मान्यता नहीं है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" यही यहां का उद्घोष है। इसलिये यदि वैदिक संहिताओं की स्थापना के बाद तन्त्रों की रचना का समय माना गया, तो तन्त्रों का महत्त्व कम नहीं हो गया। प्रो० पाठक आज पैदा हुए इसमें इनका दोष नहीं है, लेकिन इसका महत्त्व अवश्य है कि जो एक तिब्बती-अध्ययन की धारा शान्तिनिकेतन में चली, उसको वह इस समय भी सम्हाले हुए है। यह एक महत्त्व की बात है, गौरव की बात है। इसलिये हमें यह बात अपने मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिये कि कौन पहले हुआ, कौन बाद में हुआ और

यह हमको बाद का बताता है, इसलिये हम हीन हो गये और ये पहले के हैं, इसलिये बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये ।

दूसरी यह भी धारणा मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिये, उसमें भी कोई गौवर-लाघव नहीं होता, जब यह कहा जाता है कि इन्होंने हम से लिया है, उन्होंने उनसे लिया है, इन्होंने उनको प्रभावित किया है । जब एक देश में रह रहे हैं, एक स्थान पर मिल रहे हैं तो एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक है । इसलिये कोई भी आदमी यही चाहता है कि जो अच्छी चीज है, उसे हम भी ले लें । किसी ने हमको इससे प्रभावित कह दिया, तो हम हीन हो गये या किसी ने कह दिया कि उन्होंने हमारी चीज ले ली, तो उससे वे श्रेष्ठ हो गये, ऐसी बात भी नहीं है । हम साथ-साथ रहे हैं, एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं और एक दूसरे की अच्छी चीजों को ग्रहण करने की कोशिश करते रहे हैं ।

जहां तक इस सप्तदिवसीय कार्यशाला का प्रश्न है और इसमें विद्वानों की उपस्थिति का प्रश्न है, जिसकी ओर डॉ० बहुलकर जी ने और प्रो० कपाले जी ने ध्यान आकृष्ट किया, उनसे मैं यह निवेदन करूँ कि सब स्वानुभव के आधार पर ही चल रहा है और यह स्वानुभव मेरा व्यक्तिगत नहीं है, प्रो० द्विवेदी का व्यक्तिगत नहीं है और हमारे निदेशक महोदय का भी व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि सामूहिक है । इस संस्था के सामूहिक अनुभव की बात है । यहां हम लोगों ने सप्तदिवसीय, पंचदिवसीय, चतुर्दिवसीय, अखिल भारतीय कार्यशालाएं आयोजित की हैं, गोष्ठीयां आयोजित की हैं, परिसंवाद गोष्ठीयां आयोजित की हैं, अन्ताराष्ट्रिय परिचर्चा गोष्ठी भी आयोजित हो चुकी है और उनमें जो-जो अनुभव हमें होते रहे हैं, विद्वत्परामर्श से जो भी निष्कर्ष निकलते हैं, उनका हमने लाभ उठाने का प्रयास किया है । मुझे स्मरण है कि कभी परिसंवाद के नाम पर स्वर्गीय जगन्नाथ उपाध्याय जी, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी, लक्ष्मीनारायण तिवारी जी आदि लोग दूसरी संस्थाओं से जुड़े होने पर भी, पूरे जोर-शोर और उत्साह के साथ इसको अपनी ही संस्था मान कर, पूरी व्यवस्था में लगे रहते थे और उन लोगों के सत्प्रयासों से इतने विद्वान् आते थे कि कभी-कभी तो परिसंवाद गोष्ठी के नाम पर, परिचर्चा के नाम पर, विद्वानों का मेला ही लग जाता था, किन्तु विचार का स्तर इससे घट जाता था । लेकिन क्रमशः सोचा गया कि हमारे अध्ययन की एक दिशा है, हम उसी पर गहन रूप से अपने को केन्द्रित करें और जो उस विषय के विशिष्ट विद्वान् हैं, उनको हम आमंत्रित करें और उनका पूरा लाभ लें । इसलिये हम अब परिसंवाद गोष्ठी को छोड़कर कार्यशाला के रूप में अपने आयोजनों को ला रहे हैं, जिससे मात्र औपचारिकता न हो, बल्कि हम गंभीरतापूर्वक विवेचन कर सकें ।

हमारे संस्थान का स्वरूप और अध्ययन-अध्यापन का विषय पूरा अन्ताराष्ट्रिय है । यहां जो एक सुई गिरती है, उसकी खनक तत्काल सुदूर देशों में भी हो जाती है, क्योंकि बौद्ध-विद्या के अध्ययन के प्रति सारी दुनियां में एक विशेष रुचि जगी है, विशेषतः जब से परमपावन दलाई लामा के तिब्बत से

निर्वासन की दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी आई, जो कि आज भी चली जा रही है । लेकिन उसका एक शुक्ल-पक्ष यह हुआ कि विश्व भर में तिब्बती बौद्ध-दर्शन का जो प्रचार-प्रसार हुआ और अध्ययन के प्रति अभिरुचि बढ़ी, वह सम्भवतः अभी कई युगों तक नहीं हो पाती । हमारे निदेशक जी के व्यक्तित्व से आकृष्ट हो कर विदेशों से विशिष्ट विद्वान् निरन्तर इस संस्था से सम्बन्ध बनाये रखते हैं और बौद्ध-विद्या के जो गिने-चुने केन्द्र हैं, उनमें भी जो गिने-चुने विद्वान् हैं, वे भी हमारी दृष्टि में होते हैं । हमारे लिये तो त्रिरत्न के बाद वे ही रत्न हैं और उनकी चमक हमें निःसंदेह आकृष्ट करती है । हम उनको अपने यहां सजोने की चेष्ट किया करते हैं । इसी दिशा में हमारा यह प्रयास है । यह बात अवश्य है कि सबेरे से लेकर शाम तक आप लोगों को निकलने का मौका नहीं मिल पाता । यह हमारी मजबूरी है कि हम मुख्य नगर से उठा कर बाहर फेंक दिये गये हैं और यहां हमारी जो असुविधाएं हैं, उन्हीं को हम आपके सामने उपस्थित कर पा रहे हैं, सुविधाओं से वंचित कर देते हैं । इसके लिये कृपया हमें आप क्षमा करेंगे ।

जहां तक हमारे सहयोगी बन्धु आचार्य पी० उर्येन तेनज़िन ने दुःख व्यक्त किया कि इस कार्यशाला का स्वरूप और निखरना चाहिये था, उनका दुःख सही है, लेकिन चूंकि वे इतना अध्यापन में व्यस्त रहते हैं कि बहुत सी चर्चाएं उन तक नहीं पहुंच पाती । हम सब लोगों का सारा प्रयास बौद्ध और उसमें भी भोट अध्ययन के ऊपर ही केन्द्रित है, यह उन्हें मालूम है और निदेशक जी ने भी कई बार इसकी चर्चा की है । लेकिन हमारे जो अन्य बौद्ध विद्वान् विभिन्न परम्पराओं वाले हैं, विभिन्न सम्प्रदायों के हैं, उन सबके बीच में संवाद की कमी है । वे हमारी भाषा हिन्दी उतनी अच्छी तरह से नहीं समझ पा रहे हैं । हम उनकी तिब्बती अच्छी तरह से समझ नहीं पाते और उस तिब्बती भाषा में छिपे हुए ज्ञान को उस भाषा को न जानने वाले हिन्दी और अंग्रेजी के अभ्यस्त विद्वान् कैसे जाने, यह एक समस्या है । कार्यशाला के विषयों को दुभाषियों के माध्यम से एक दूसरे के सामने रखें, तो समय की सीमा, व्यावहारिक कठिनाइयां, अनुवादक का पूर्णतया उनके भावों को संप्रेषण न कर पाना, ये सारी कठिनाइयां हैं । वस्तुतः जहां तक मैं समझ पाया हूं, हम लोगों का यह सारा प्रयास तो उसी दिशा में है, उसी गम्भीरता की ओर है । हम विभिन्न सम्प्रदायों को, शैव, जैन, शाक्त— इन सबको समेट करके एक ओर चल रहे हैं, यह वैसा ही कार्य है जैसा कि हम गम्भीर महासिन्धु में कूदने के पहले यह टटोलें कि हमारे आधार कौन-कौन से हो सकते हैं, क्या हो सकते हैं ?

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अब ज्यादा वक्त नहीं है । समय की सीमा हमें कुछ संकोच करने के लिये बाध्य कर रही है, तो भी मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का भी इस कार्यशाला में प्रतिनिधित्व हो सके, इस अभिप्राय से वहां के तन्त्रागम विभाग के

प्राध्यापक डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय से अल्प समय में अपनी बात कहने की प्रार्थना करता हूँ ।

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय

आदरणीय गुरुजन ! आप लोगों ने इस विद्वत्सभा के समक्ष अपनी बात कहने का मुझे जो अवसर दिया, इसके लिये मैं आप सभी लोगों का आभारी हूँ । कुछ थोड़ी सी ही बातों को मैं आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ । तन्त्रशास्त्र को निन्दित बनाने वाला एक गलत स्वरूप हमारे सामने है । इसका कारण इस शास्त्र में अनधिकारियों का प्रवेश ही है । यह साधना-प्रधान शास्त्र रहा है और इसमें कुशल साधक ही गुरु की सहायता से इसके सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ सकता है । अनधिकारियों ने तान्त्रिक के रूप में अपने को समाज में स्थापित किया और अपने निकृष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जनसाधारण को खूब ठगा और लूटा । इनके शिष्यों की भी लम्बी-चौड़ी परम्परा बनी । इसके संकेत हमें अभिनवगुप्त, तुलसीदास एवं भास्करराय के ग्रन्थों में भी मिलते हैं । समाज में इस तरह के लोग हमेशा से रहे हैं और आज तो इनके प्रभाव का कहना ही क्या है ?

दूसरा कारण इस शास्त्र में षट्कर्मों, यथा— मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन, विद्वेषण को अनावश्यक और अत्यधिक मान्यता देना रहा है । ये षट्कर्म सिर्फ साधना के लिये ही हैं, आत्मरक्षा ही इनका प्रयोजन है, किन्तु ये कर्म किस प्रकार से लोगों के लौकिक सुख-साधन और मानव की हीन मनोभावों की पूर्ति के प्रमुख-साधन बन गये, यह बात समझ में नहीं आती । इन षट्कर्मों का सम्बन्ध षड्विकारों से है और ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य के शमन के लिये हैं । ये विकार शाश्वत होते हैं और इन षट्-साधनों से इनका शमन किया जाता है । तब ये ही शक्तियाँ अन्तर्मुखी बनकर ईश्वर के षडैश्वर्य को साधक के चित्त में उजागर कर देती हैं किन्तु दुर्भाग्य-वश इस शास्त्र के सम्बन्ध में जन-साधारण की प्रवृत्ति विपरीत होती गयी ।

इसका तीसरा कारण है— शाबर जैसे मन्त्रों का जनसाधारण में प्रवेश, जिनका सीधा सम्बन्ध केवल जादू-टोने से ही था । बारहवीं शती के पश्चात् इस तरह के मन्त्रों का प्रचलन बढ़ा । शीघ्र सिद्ध हो जाने वाले इन मन्त्रों ने जनमानस को खूब रिझाया और आकर्षित किया । परिणाम-स्वरूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति कराने वाला भारतीय तन्त्रशास्त्र जन-साधारण में अपने मूल स्वरूप को खोता गया और आज इस शास्त्र का अत्यन्त संकुचित स्वरूप ही हमारे सामने रह गया है ।

यह सौभाग्य की बात है कि इस शास्त्र के मलाक्रान्त स्वरूप को, संकुचित स्वरूप को प्रस्तुत कार्यशाला ने नकार दिया है । यह इस कार्यशाला की प्रमुख उपलब्धि मानी जा सकती है । इस कार्यशाला में विद्वानों के सवादों को सुनकर मुझे ऐसा लग रहा है कि इस शास्त्र के अध्ययन की दिशा में

अभी कोई कमी रह गयी है । इसका कारण जहां तक मैं समझता हूँ कि यह कमी इसके सिद्धान्त पक्ष और क्रिया पक्ष के समन्वित-अध्ययन का न होना है । किसी तन्त्र के सिद्धान्त पक्ष के ग्रन्थ मिलते हैं, तो उनकी प्रयोग-पद्धति नहीं मिलती और किसी का क्रियापक्ष मिलता है, तो उनके सिद्धान्त-पक्ष के ग्रन्थ नहीं मिलते, जिसके कारण विभिन्न सम्प्रदायों तथा उनके सिद्धान्तों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता । मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को इन पक्षों पर भी विचार करना चाहिये ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अन्तिम वक्ता के रूप में मैं इस संस्थान से सम्बद्ध डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी से निवेदन करता हूँ कि वे अपने विचार व्यक्त करें ।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, श्रद्धेय द्विवेदी जी, उपस्थित विद्वद्वृन्द ! कार्यशाला की उपलब्धियों के बारे में काफी चर्चा हो चुकी है और यह भी हम सब मानते हैं कि कई दृष्टियों से हमारी यह कार्यशाला काफी उपयोगी रही है । मैं उस विषय में कोई वक्तव्य नहीं देना चाहता । एक दो सुझाव हमारे हैं । मुझे स्मरण है कि संस्थान के माध्यम से एक योजना चलाई गई थी, हिमालय के सर्वेक्षण की । उसी प्रकार से तान्त्रिक सर्वेक्षण की एक योजना चलाई जानी चाहिये । वेद के बारे में तो लोग कह देते हैं कि "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा" लेकिन इनके अतिरिक्त जितने बचते हैं, उनमें से प्रायः सबको श्रुतिगोचर होती है । यह तन्त्र तो उससे भी ज्यादा संकुचित है । पात्र को खोज कर ही इसका उपदेश दिया जाता है । हम इस प्रकार की गोष्ठियों में कुछ अतिविशिष्ट विद्वानों को आमंत्रित करना चाहें, तो वे यहां आकर अपना विचार प्रस्तुत नहीं कर सकते, उनकी कुछ कठिनाइयां हैं, उनकी कुछ परम्पराएं हैं । कुछ उनमें अतिवृद्ध साधक हैं, जो उपयोगी तो हमारे उनकी लिये बहुत हो सकते हैं, वरदान हो सकते हैं, लेकिन वे यहां आ नहीं सकते । इसलिये इस दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के निदेशक महोदय से और उनके माध्यम से संस्थान के निदेशक महोदय से हमारा विनम्र निवेदन है कि एक ऐसा कार्यक्रम बनावें— जो विभिन्न परम्पराओं के आचार्य हैं, जो परम्परा से साधना कर रहे हैं, साधना में लगे हुए हैं, उनसे किसी प्रकार सम्पर्क करके, टेप के माध्यम से, लेख के माध्यम से उनके कुछ अनुभवपूर्ण विचारों को, तन्त्र की परम्पराओं के बारे में, उनकी साधनाओं के बारे में, जितना बिना दीक्षा के भी सम्भव हो, प्राप्त करें, तो ज्यादा उपयुक्त होगा । यद्यपि इस कार्यशाला में काफी अच्छे अच्छे विद्वान् आये हैं और उन्होंने बड़े महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं, किन्तु परम्परा के द्वारा, अनुभव से युक्त जो सुझाव होंगे, वे हमारे लिये ज्यादा उपयुक्त होंगे । कभी कभी ऐसा होता है कि हमने एक परम्परा से एक ही दीक्षा की बात सुनी, तो दूसरी परम्परा की उस बात को वैसा मान लेंगे, तो यह गलत होगा, क्योंकि इस परम्परा में वह बात नहीं है । श्रीविद्या की दीक्षा की परम्परा को ही देख लिया जाय, तो उसमें कई परम्परायें हैं— किसी ने

हयग्रीव परम्परा से लिया है, किसी ने दत्तात्रेय परम्परा से लिया है, किसी ने गन्धर्व-परम्परा से लिया है । भेद हो जाने के कारण एक बात हमारी समझ में ठीक से नहीं आती है, तो अधिकारी विद्वान् के द्वारा उस परम्परा के बारे में समाधान मिल सकता है कि इस परम्परा से तो यह उपयुक्त नहीं है, लेकिन उस परम्परा से उपयुक्त हो सकता है । ऐसी बातें हमें अनुभवी विद्वानों से प्राप्त होगी । हमारा यह निवेदन है, या एक सुझाव है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

इस बहुमूल्य सुझाव के लिये त्रिपाठी जी को धन्यवाद । इस पर ध्यान रखा जायगा । अब मैं आज के सत्र के मनोनीत अध्यक्ष डॉ० एन० आर० भट्ट जी से निवेदन करता हूँ कि वे हमें अपने विचारों से लाभान्वित करें ।

प्रो० एन० आर० भट्ट

Dear friends, I would like to thank Prof. Dwivedi, for inviting me here, and take this seat though there are other great people who are more eligible for this seat to do *adhyakṣatā*. I don't know why he has selected me. I am thankful for this. I have to repeatedly say that religion existed in India at 5000 B.C. and it is certified by excavations of Marshall. There existed different religions at the same time. If a religion existed, it has to be inspected or examined by spirituals and practitioners. This practice or ritual is called *tantra*. So there were at the same time different kinds of worships even at that time of 5000 B.C. There are found materials of different sects, Śaiva, Vaiṣṇava, serpent worship, tree worship etc. No texts were available at that time. Because all our religious practice in India is coming down from teacher to disciple, so nothing was written down. So they have no proof of getting any text of that period. Gradually the Vedic religion entered India. It was keeping about. But as time passed on, different teachers arose and naturally there was some kind of relation between Vedic and Tantric religions. Then after Buddha, Bauddha religion arose. It was so powerful, Buddha's teachings were very powerful that it pervaded the whole of India, not only India, East Asia also, Japan, China etc. He prohibited the Vedic sacrifices etc. because it was all *himsā*. And by its influence these sacrifices had to be minimised or it remained in one or two places only. Then came incarnation of Śaṅkara who was a Śaiva by birth, a pure Śaiva. His father was a Śaiva who was making worship in a temple. But, he studied Vedas, Upaniṣads and of course before him there were Gauḍapāda etc. But he made a great Advaita philosophy, and covered whole of India by his teachings, which gradually eliminated Buddhism from India. Power of Buddhists remain here and there, but whole power of Buddhism was eliminated by Śaṅkara. But even after the philosophy of Śaṅkara, which had the thought of Advaita, the ritual did not stop. Religious people practising different religions accepted Advaita as philosophy, but never left their practices of religion. The temple worship continued, the personal practices continued, but for philosophy, they accepted Advaita. So, it is natural, when it comes from a teacher to disciple. As we do search now, the *guru* is also making research. So when he is teaching, I do not think, he is teaching exactly what was taught to him. But with his more experimental measures, he

was teaching something more or different. This is how through different teachers, different lines came. Even in Buddhism, you have got so many lines—Hinayāna, Vajrayāna, Mahāyāna etc. It is this because, no texts were written, the teacher's thought was powerful, their teaching also was research. Our research was different than the modern research. So, teachers by their experiment, by their *sādhana*, form some methods. They realized and then taught all that to their disciples. This is how you got so many lines, branches of Tantra. They are not contradictory, they are not untrue, because it is taught by a teacher who has realized. So what is our main purpose ? To be released from sufferings and to attain bliss. Whatever it may be. You may call it *mukti*, or this or anything you like. Main purpose of people is not to have suffering. But there are different levels of people in this world. Some one wants some immediate result. He is not ready to wait up to the end, to have a permanent bliss. So what was the way ? The teacher has to give him something. If a person comes saying. " I have no food, I have no money, I want to do something, please give me a practice, by which I could get my food"— this is how this *ṣaṭkarma* entered into. There were, of course, *sādhana*s. The teachers had to give those low people the *ṣaṭkarma*. But the world, which was more philosophical before, is going more materialistic later. So every people, every body, most of the people went for this *sādhana*, *ṣaṭkarma sādhana* and at one stage, people are thinking that tantras are just for *ṣaṭkarma*, and nothing else. So it is not the mistake of the tantras, it is not the mistake of the teachers, it is the mistake of the people, low class people, who propagated that by tantra you will get so many things in this world itself and no suffering. Even the Kings had some *gurus* with them. When they were attacked by enemies, when they are not powerful enough to defeat the other King, then they were asking the *guru*, "please try to help me, I want to win." So the *guru* had to help. So it has *ābhicārika karma*. Even in Vedas, which are just for sacrificial purpose or something, I mean, *svarga* etc., there are some *ābhicārika karmas*. These karmas entered in the Atharveda. That means it was necessary at that time; people were craving for it and *gurus* had to satisfy the people, but the main purpose of the tantra is not *ṣaṭkarma*, it was for gaining bliss to the people. The Vedas have so many *śākhās*, so many different branches, because, the Veda is a *śruti*, it has come from teacher to disciple. And *gurus* are making experiments, because of the different experiments, different kinds of thoughts, they had *dhyāna*, in meditation they had experienced something, and were teaching it and this is the reason why you have so many different sects and so many *yānas* today. I don't think there is anything wrong in it. Whatever be the way, the main purpose is served. I think in the Tantric line, real teachers are still available in Tibet only. I don't think there is any one in Kashi, where a great teacher like Gopinath Kaviraj existed. He was a great teacher of *tantra*, in the whole of India ! Everybody was coming to him, because he was the only one. There was a conference on Tantra in Sampurnānanda Viśvavidyālaya for which I also had come. Real teachers today exist in Tibet, and other parts, there are teachers; how far they have attained somethings, it is yet to be seen. As I say if you call a workshop of *sādhakas*, we can perhaps find out if real *sādhakas* exist in other parts of country. In Śrīvidyā, they exist, I agree. In Śrīvidyā lines there exist great teachers, but they are not known, so if the *guru* exists, he is always

antarmukha. So we are not able to find where *guru* exists. How can we have the *sādhana* ? So what is the other way ? When *guru* was teaching, there were different kinds of *śiṣyas*, the lower *śiṣyas* started writing it down, so the *tantras* entered into books. And *śiṣya* was writing because he was *maṇḍa*. Only *maṇḍa śiṣya* was writing, not the brilliant one. So the branches of Veda arose. Today it is the most important that existing texts have to be published. Because, "अधीतिबोधोपाचरणप्रचारणः" you must study, then you must teach, then you must practice, then you must put it before the public. Today the instrument of publication is only by publishing books. How can you publish books in *tantras* ? Only with the help of Mss. Because you will not find a *guru* who will recite and then you can take notes. So, when you see the Mss. you will see that different scribal errors are there, because of the *maṇḍa śiṣyas* and you have to correct as many as Mss. The same mistake will not occur again. So, by correcting them make a critical edition and find out the pure text. Unfortunately the state today is that we have lost atleast 80% of our culture. Abhinavagupta was quoting so many texts. Where are they ? Not in Kashmir, not in Nepal, not in Rajasthan. Where were no invasions—Rajasthan, Nepal and Tibet, there books are existing; but even there, these books are not extant. So we have lost a great heritage. But about 20% is still available. Many of the Mss. are with the *gurus*, who do not want to show it. They have kept it as a secret. Tantra is a secret. I don't know why they are not willing to show it. They will not tell. So how to find out ? If the teachers, are really interested in the propagation of the Tantra, if they want to save the human kind, they must come forward and tell, see, we have these Mss., please try to help, please publish them. I think even the Tibetan teachers will help in this venture because there really exist great *gurus* in corners. I have not travelled there, so I do not know, but I heard. These great teachers of Tibet and Nepal and even Kashmirian Pandits have lots of Mss. but they are not showing. Nobody has inspected them thorough. You have to make a list of these Mss., and examine them. This is a lot of work. This means great patience is needed; it requires a lot of hours and a lot of money. How can you do without money ? Previously there were states, and the Kings were helping. Today you have secular state. Govt: says, it is helping education and you have so many Samsthānas, Rastriya Sanskrit Sansthan, etc., but I am not sure they are really interested in helping. So, such institutes as this has to take interest in these things. If it is a Tibetan Institute, you collect all the Mss. belonging to Tibet, and try to publish them. So that atleast they are preserved for the future. I have seen, the *gurus* are becoming less and less, *śiṣyas* are becoming less, the world is becoming more materialistic and I don't know how many people are interested in *sādhana*. If the works exist, atleast, time will come, people will read and the future of India will certainly be better. It can't go on like this. It is *kālacakra*, it has completely gone down today, but it will come up again, it can't stay like this. At that time these books will help the students. And if some one or two *gurus* exist, and if they help, this *sādhana* will grow. Man is ready to kill a person just for five rupees today, because our Dharma has become *kṣīṇa*. धर्मो रक्षति रक्षितः. If you protect your Dharma, you will be protected. If your Dharma is not protected, you are not protected. There is no safety. Mankind is the same, you are brothers, there is no difference. You may follow any path, ultimate reality is only the goal of human

beings. In Bhāratavarṣa. In other places, it is also the same, but it is not so much. But in India, it is the supreme goal. So, do not study only your own subject, it is necessary to make a comparative study, a research, because the same elements are there in each of the *tantra*. The paths may be different, this is also very interesting to find out. So a group of scholars from different branches should join together, make a comparative study and also make a study of each branch minutely by collating the Mss. and publish the critical editions, together with translations if possible. It may help the human kind and it will help build the future of Bhāratavarṣa which was flourishing at one time better than all the other countries. Thank you.

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अब मैं इस पूरे सप्तदिवसीय आयोजन में सम्मिलित होकर जिन विद्वानों ने हमें अपने विचारों से लाभान्वित किया और जिन महानुभावों ने इस कार्यशाला को सफल बनाने में सहयोग दिया, उन सबके प्रति आभार प्रदर्शन करने के लिये संस्थान के सकायाध्यक्ष प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र जी से निवेदन करता हूँ ।

प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र

आदरणीय अध्यक्ष जी और विद्वद्वृन्द ! हम धन्य हुए कि आप लोगों ने इतने धैर्य से, मनोयोग से, निष्ठा के साथ सात दिन तक साथ-साथ बिताने की कृपा की । धन्यवाद है इस सप्तदिवसीय आयोजन के संयोजक प्रो० द्विवेदी, पण्डित पाण्डेय और उनके सहयोगियों को, जिन्होंने दृढ़-दृढ़कर अधिकारी विद्वानों को आमन्त्रित किया और उनसे अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिये निवेदन किया । हमारे ये दो सर्वविध वृद्ध जिस तरुणाई का प्रदर्शन अध्ययन-अध्यापन और सम्पादन कार्य में करते हैं, वह हमारे संस्थान के प्रत्येक सहयोगी के लिये अनुकरणीय है । हमारी संस्था को इन पर गर्व है । इसलिये हम सर्वप्रथम इनको और इनके अन्य सहयोगियों को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने इस आयोजन को सफल बनाने में कोई भी कोर-कसर बाकी नहीं रखी । प्रो० द्विवेदी और पाण्डेय ने अपने दीर्घकालीन अध्ययन-अध्यापन के जीवन में जो स्वयं किया, वह तो किया ही, जितने अधिकारी विद्वान् लोग जहां हैं, उनसे भी व्यक्तिगत सम्पर्क रखा, उन्हें दृढ़ पाने में समर्थ हुए और उनको यहां तक लाने में भी सफल हुए, यह इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

जहां तक हमारे निदेशक जी के आज या इस पूरे आयोजन में अधिकांशतः अनुपस्थित होने की बात है, वे शरीर से उपस्थित भले न हों, मन से प्रतिक्षण हमारे साथ रहे हैं । वे जहां भी रहते हैं, उन्हें संस्थान के हर कार्य के विषय में चिन्ता बनी रहती है और सम्बद्ध लोगों को समय-समय पर दूर बैठे रहने पर भी पुँछवाया करते हैं कि क्या हुआ क्या नहीं हुआ, कोई आवश्यकता तो नहीं पड़ रही है । अपने सहयोगियों पर उनका जो अपार विश्वास है, वह विशेष धन्यवाद का विषय है । उन्होंने प्रो० द्विवेदी का अधिकृत कर दिया कि जैसा आप उचित समझे करें । अन्य भी जितनी कार्य-गाएँ, सिम्पोजियम आदि होते हैं, उनमें जिनको जो दायित्व दिया, उनको पूरी तरह से

अधिकृत कर दिया कि वे उस कार्य के निर्वाहन के लिये स्वतन्त्र हैं और यह उस आयोजन में लगे हुए व्यक्ति के लिये बड़े भारी सौभाग्य की बात है । यह सर्वत्र सुलभ नहीं होता । इसलिये हम अपने निदेशक जी के हृदय से आभारी हैं, जो मन से तो उपस्थित रहे ही हैं, तन से भी जितना अधिक हुआ उपस्थित रहे और हर प्रकार का प्रोत्साहन, मार्ग-दर्शन, आशीर्वाद देते रहे ।

इस व्यवस्था से जुड़े हुए विद्वानों और अधिकारियों के अतिरिक्त मैं धन्यवाद दूंगा प्रो० भट्ट को, जो इतनी दूर एकान्त-साधना में लीन थे । हम लोग बहुत दिनों से शैवाग्रमो के सम्पादक और उद्धारक के रूप में उनका नाम सुनते रहते थे, दर्शन करने का सुयोग नहीं प्राप्त हुआ था । बड़ी लम्बी, बड़ी कष्टकर यात्रा है पांडिचेरी से यहां तक की । उसको भी उन्होंने हम लोगों पर कृपा कर के सहा, हम उनके आभारी हैं । साधको की लम्बी परम्परा को जीवित रखने वाले श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य जी हमारे बीच उपस्थित हुए और उन्होंने अपनी उपस्थिति से परम्परा की विद्वत्ता का हमें लाभ दिया । हमें विश्वास है कि भविष्य में वे स्वयं तो यहां उपस्थित होंगे ही, अन्य अधिकारी विद्वानों को भी हमारे यहां आने के लिये प्रेरित करेंगे । हमारी चाहे साहित्य की हो, चाहे साधना की हो, प्रचुर निधि नेपाल में अभी भी सुरक्षित है, वह चाहे तिब्बती में हो, चाहे संस्कृत में हो । इसलिये हमें उनसे निरन्तर सहयोग की अपेक्षा है । हम उनसे निवेदन करते हैं कि वे हमारे लिये आगे भी इसी तरह से मार्गदर्शन करते रहें, उपस्थित होते रहें, उनके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक जी सौभाग्य से हमें आज उपलब्ध हैं । सौभाग्य से तो सभी हैं, लेकिन इनके साथ एक विशेष बात जुड़ी हुई है कि यह शान्तिनिकेतन में बैठकर अत्यन्त सक्रिय रूप से हमारी बौद्ध अध्ययन की संस्कृत और तिब्बती धाराओं को, चीनी धाराओं को एक साथ जोड़ने में और उद्धार करने में लगे हुए हैं । प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, वेणीमाधव बरुआ, राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों की परम्परा से यह जुड़े हुए हैं । इनका स्नेह-सद्भाव हमारी संस्था के प्रति निरन्तर रहा है । वहां पर भी ये एक इसी तरह की शिष्य-परम्परा तैयार करते रहे हैं, जो संस्कृत, तिब्बती, चीनी, मंगोलियन आदि सभी स्रोतों को लेकर धर्म, दर्शन, इतिहास, तन्त्र आदि को जीवित रख रही है, बढ़ा रही है । हम उनके प्रति आभारी हैं ।

इसी प्रकार प्रो० कपाले, प्रो० आपटे भी इतनी दूर की यात्रा के कष्ट का अनुभव करते हुए यहां आये, हमें कृतार्थ किया, इसके लिये हम उनके आभारी हैं । ये सब अपनी अपनी परम्परा के महारथी हैं । उन्होंने अपनी उपस्थिति से हमें दिशा-निर्देश किया है । हमें विश्वास है कि भविष्य में वे स्वयं भी उपस्थित होंगे और अपने शिष्यों और मित्रमण्डली को भी प्रेरित करेंगे कि हम उनका सहयोग प्राप्त कर सकें । हमारे लिये यह सौभाग्य की बात होगी । प्रो० बहुलकर तो जबसे इस संस्था से जुड़े हैं, वह चाहे संस्कृत-भाषा का कोई आयोजन हो, चाहे तन्त्र का हो, चाहे सम्पादन का हो, हम उन्हें छोड़

ही नहीं पा रहे हैं । यह उनकी कृपा है कि वे भी अपने को हमसे छुड़ाना नहीं चाह रहे हैं । हम बहुत आभारी हैं कि ये हमारे आग्रह को, हमारे निवेदन को, स्वीकार कर लिया करते हैं । वैयाकरणों ने "चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" कहा है और हम लोग इन चारों प्रकारों का यथावसर उपयोग कर लिया करते हैं । इसी तरह से बाहुलकर जी ने अपने यथेष्ट विनियोग की अनुमति देकर अपने नाम का सार्थक्य निःसंदेह सिद्ध कर दिया है । हम उनके आभारी हैं ।

इसी तरह प्रो० हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती जी, जो इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकोश अनुभाग से सम्बद्ध हैं, जब भी कोई दार्शनिक या साधना की चर्चा यहां संस्थान में होती है, साग्रह उपस्थित होते हैं और यहां आकर हमें कृतार्थ करते हैं । जो विद्वान् आज यहां उपस्थित नहीं है— प्रो० नथमल टाटिया सपत्नीक, प्रो० जी० सी० पाण्डेय सपत्नीक, उन्होंने भी विभिन्न अवसरों पर निरन्तर उपस्थित होकर अपने विचारों से हमें लाभान्वित किया है । यहां काशी के विभिन्न विश्वविद्यालयों के इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वान्, चाहे वे पार्श्वनाथ संस्थान से प्रो० सागरमल जैन हों, चाहे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्या एवं धर्मगम संकाय के प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी, डॉ० व्यास या डॉ० कमलेशकुमार जैन हों, अथवा इसी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय हों, इन सबका हमें समय-समय पर सहयोग मिलता रहता है । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय जी का तो पहली ही बार यहां हम लोग सहयोग प्राप्त कर सके, किन्तु डॉ० राजनाथ त्रिपाठी, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, डॉ० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा, प्रो० गोकुलचन्द्र जैन, डॉ० फूलचन्द प्रेमी—ये सब भी यथावसर उपस्थित होते रहे हैं । काशी विद्वापीठ से संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी और हिन्दी विभाग के आचार्य प्रो० युगेश्वर पाण्डेय की भी सक्रिय सहभागिता के लिये, हम उनके आभारी हैं ।

सच तो यह है कि हमारा हर आयोजन इसीलिये सफल होता रहा है कि हमारी गोष्ठियों में रुचि रखने वाले स्थानीय विश्वविद्यालयों के सभी विद्वानों ने हार्दिक सहयोग किया है, उपस्थित हुए हैं और हम जब कभी उनका नाम भिन्न संस्था से जुड़ा हुआ कहते हैं, तो कहने में ही संकोच होने लगता है । वह एक औपचारिक भेद है, अन्यथा वे सब अपने ही हैं । इसी प्रकार हमारे यहां यह एक संयोग की ही बात है कि तीन चार प्रदेशों से विद्वान् आये हैं ।

हमारे संस्थान के एक स्तम्भ प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी जिस कार्य से जुड़ते हैं, उसे बिना सविधि सम्पन्न कराये छोड़ते नहीं । इसीलिये इन्होंने पहले दिन से संचालन शुरू किया और आज लाकर हमें धन्यवाद की माईक थमा दी । जब तक वह सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में थे, तब भी हम लोगों को इन्हें वहां का कहने में संकोच होता था और आज संकोच यह हो रहा है कि अपने बीच में ही आ गये हैं, तो अब क्या धन्यवाद दें । अपने ही हैं, हृदय की बात जानते हैं ।

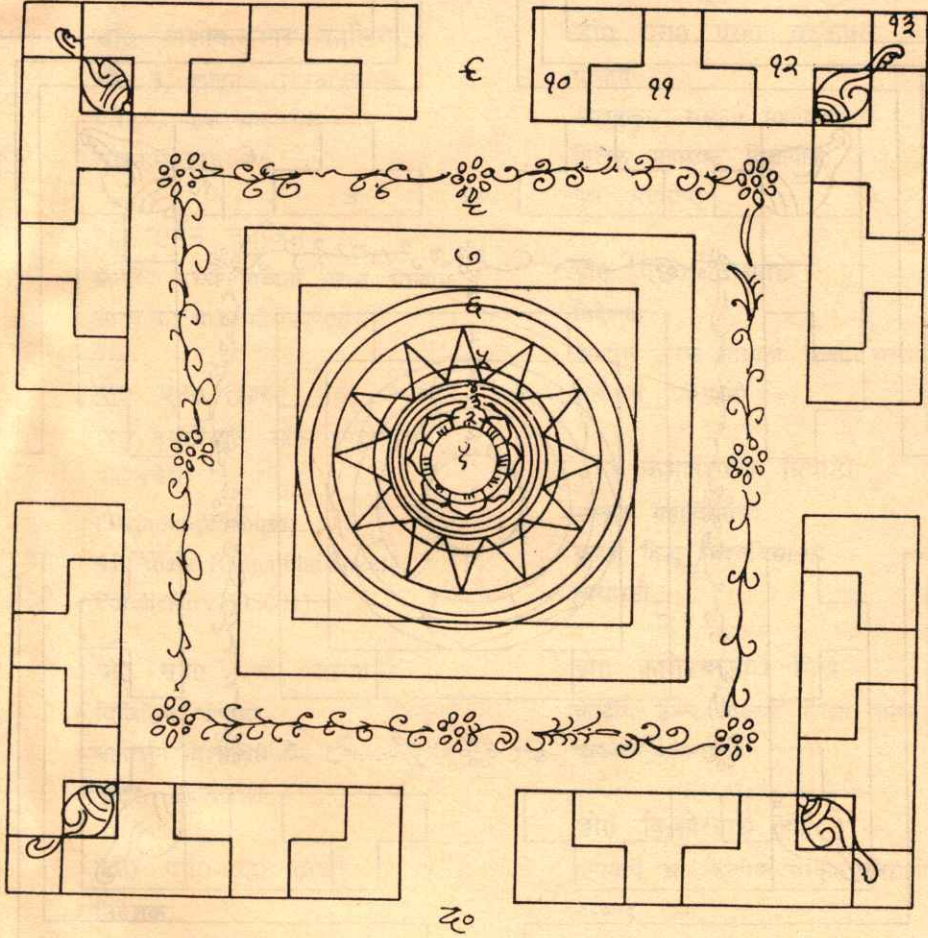
हमें प्रसन्नता है कि जिन उद्देश्यों को लेकर हम अपने यहां गोष्ठियां करते हैं, उसमें विषय का निरूपण तो होता ही है, एक और उद्देश्य यह होता है कि जो हमारे यहां का अभी उभरता हुआ तरुण वर्ग है, वह चाहे विद्यार्थी हो, चाहे विभिन्न अनुभागों से जुड़े हुए विभिन्न पदों पर आसीन हमारे सहयोगी हों, वे खुल कर सामने आवें, विद्वानों से सीखें और अपना योगदान अंकित करावें। हमें बहुत प्रसन्नता है कि इस तरह की गोष्ठियां, परिचर्चायें, कार्यशालायें करते करते हम इस काम में सफल हो रहे हैं। परिणामस्वरूप डॉ० वड्डुगु दोर्जे नेगी, आचार्य नवांग समतेन, आचार्य लोसंग नोरबु शास्त्री, आचार्य झलछेन नमडोल, आचार्य छुलठिम फुचोक, आचार्य पी० तेनजिन— इन सब लोगों ने बीच बीच में सहयोग देकर हमें आज आश्चर्य कर दिया है कि धीरे धीरे इनके कंधों पर हम दायित्व सौंप कर निश्चिन्त हो सकते हैं।

हमारे रिप्रोग्राफी सेक्शन और रिकार्डिंग सेक्शन ने जितना सहयोग किया, भोजन आदि की व्यवस्था करने में श्री जम्पा समतेन जी और अन्य सहयोगियों ने जो भार लिया और जितनी भी सेवा वह कर सके, उसके लिये हम निःसंदेह उनके आभारी हैं, कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में हमारे और भी विद्यार्थी-सहयोगी लोसंग दोर्जे, रमेशचन्द्र नेगी, जम्पा समतेन आदि जो निरन्तर यहां उपस्थित रहते रहे हैं, अब केवल सुनते ही नहीं रहेंगे, आगे अपना सक्रिय सहयोग देंगे, बोलेंगे। हमारे अन्य परम्परागत विद्वान् और सहयोगी प्रो० येशे थपख्ये जी और प्रो० सेम्पा दोर्जे जी ने समय समय पर गूढ़ विषयों पर प्रकाश डाला और जो बातें परम्परा से चली आ रही हैं, उन्हें हमारे सामने स्पष्ट रूप से रखा, हम उनके आभारी हैं। हमारे सारे क्रियाकलापों को जनसामान्य तक पहुंचाने के लिये डॉ० बाबूराम त्रिपाठी के नेतृत्व में गठित दल के सहयोगी डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी, डॉ० रामजी सिंह, श्री पेमा तेनजिन आदि लोगों ने जिस सक्रियता से कार्य किया, उससे नगर के लोगों को भी यह ज्ञात हो सका कि यहां कुछ हो रहा है। हम इनके भी आभारी हैं। अन्त में मैं पुनः सभी को धन्यवाद देते हुए अपने इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

चक्राब्जमण्डलम् see pp 447-450

३०



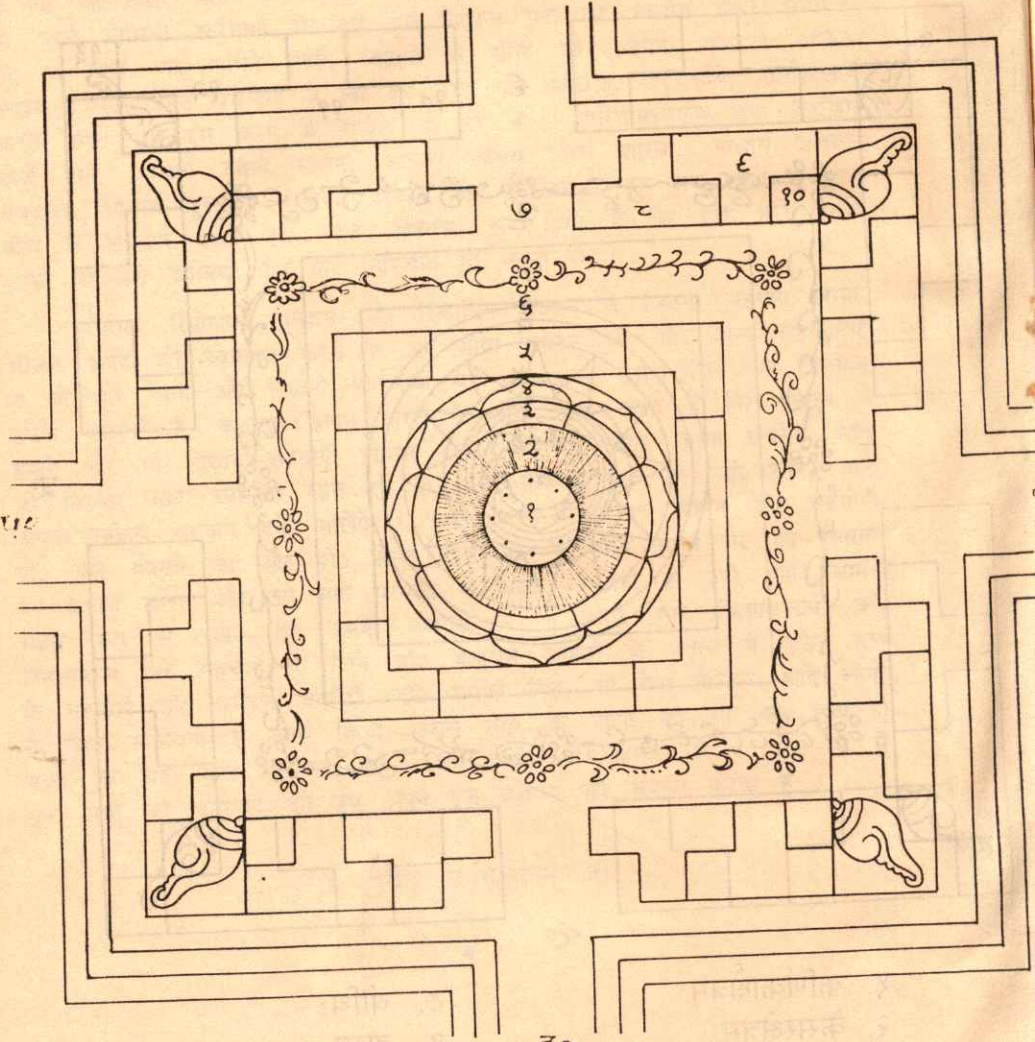
१. कर्णिकाक्षेत्रम्
२. केसरक्षेत्रम्
३. दलक्षेत्रम्
४. नाभिक्षेत्रम्
५. अरक्षेत्रम्
६. नेमिक्षेत्रम्
७. पीठम्

८. वीथिः
९. द्वारम्
१०. अर्धशोभा
११. शोभा
१२. उपशोभा
१३. शंखः

भद्रकमण्डलम्

५०

१११



१. कर्णिकाक्षेत्रम्
२. केसरक्षेत्रम्
३. दलसन्धिक्षेत्रम्
४. दलाग्रक्षेत्रम्
५. पीठम्
६. वीथिः

७. द्वारम्
८. शोभा
९. उपशोभा
१०. कोणः
११. बहिरावरणरेखाः

कार्यशाला में सम्मिलित विद्वान् एवं निबन्ध लेखक

डॉ० अशोककुमार कालिया,

डी० ३, लखनऊ विश्वविद्यालय

फ्लैट्स, गोकर्नाथ रोड,

लखनऊ-२२६००७

श्री उर्ग्येन तेनजिन

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,

सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

प्रो० एन० आर० भट्ट

फ्रेंच इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डोलॉजी

पाण्डिचेरी

[Tirumundi House,

41, Anand Rangajillai Street

Pondichery-605001]

प्रो० एन० एच० साम्तानी

विजिटिंग प्रोफेसर

नागार्जुन विश्वविद्यालय,

गुन्टूर, आन्ध्रप्रदेश

डॉ० एम० ए० ढाकी

निदेशक,

अमेरिकन इन्स्टीच्यूट

रामनगर, वाराणसी

प्रो० एस० के० पाठक

आकाशदीप

अवनपल्ली, शान्तिनिकेतन,

पश्चिम बंगाल

डॉ० एस० एस० बहुलकर

प्राचार्य

बालमुकुन्द संस्कृत महाविद्यालय

तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ

पुणे, महाराष्ट्र

प्रो० एस० रिनपोछे

निदेशक

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

डॉ० किशोरनाथ झा

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

आज़ाद पार्क

प्रयाग, इलाहाबाद

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

प्राकृत विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

११, बलरामपुर हाउस
मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद

डॉ० चन्द्रशेखर शि० कपाले

जंगमवाडी मठ
गुदोलिया, वाराणसी

पं० जनार्दन पाण्डेय

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

११, बलरामपुर हाउस
मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद

डॉ० जी० सी० सिकदर

मृणाल एपार्टमेंटस्
अहमदाबाद (गुजरात)

भिक्षु ज्ञलछन नमडोल

सहायक सम्पादक (पुनरुद्धार अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० ठाकुरसेन नेगी

शोध अधिकारी (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पं० दिव्यवज्र वज्राचार्य

पीयूष औषधालय मासं गली,
काठमाण्डू, नेपाल

प्रो० नथमल टाटिया

निदेशक
जैन विश्वभारती
लाडनू, राजस्थान

भिक्षु नवांग समतेन

सम्पादक (पुनरुद्धार अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

हिन्दी विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० पी० पी० आपटे

डेक्कन कालेज
पूना (महाराष्ट्र)

श्री पेमा तेनजिन

सहायक सम्पादक (अनुवाद अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

पूर्व विभागाध्यक्ष एवं
प्रो० साहित्य विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० बनारसीलाल
शोध अधिकारी (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित
५१, आदर्शनगर, बरनाई रोड
पो० वनतालाब
जम्मु-१८११२३

डॉ० मधु खन्ना
होमी भाभा फेलो
इन्दिरा गांधी नेशनल सेन्टर
फार आर्ट्स, जनपथ
नई दिल्ली

आचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्वभारती
लाडनू, राजस्थान

डॉ० मार्क डिच्कोफस्की
(शाक्त-आगम विद्वान्)
नारद घाट, वाराणसी

डॉ० युगेश्वर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

प्रो० येशे थपख्ये
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० राघवप्रसाद चौधरी
रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
शास्त्रीनगर, जम्मु-तवी-४

डॉ० राजनाथ त्रिपाठी
सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी
रिसर्च प्रोफेसर
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० रमाघोष
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
आर्य महिला महाविद्यालय
वाराणसी

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी
ब्रजमोहन विडला शोध केन्द्र
विक्रमकीर्ति मन्दिर
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी
संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी
निदेशक
भोगीलाल लहरचन्द इंस्टीच्यूट ऑफ
इण्डालॉजी, अलीपुर
दिल्ली

भिक्षु लोसंग नोरबू शास्त्री
सम्पादक (अनुवाद अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

भिक्षु वङ्छुग् दोर्जे नेगी
प्राध्यापक
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

प्रो० ब्रजवल्लभ द्विवेदी
उपनिदेशक (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय
सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ शोध संस्थान
करौदी, वाराणसी

डॉ० सुरेखाश्री
दादा साहेब ना पगला,
(युनिवर्सिटी के पास), नवरंगपुर
अहमदाबाद (गुजरात)

प्रो० सेम्पा दोर्जे
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पं० हेमेन्द्र नाथ चक्रवर्ती
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
अस्सी, वाराणसी

